भारतीय विज्ञान के महान् उन्नायक

आर्यभट

डा० परमेश्वर झा

भारतीय विज्ञान के महान् उन्नायक

आर्यभट

डा० परमेश्वर झा, एम.ए., पीएच.डी.

(सेवानिवृत्त प्रधानाचार्य, बी०एस०एस० कालेज, सुपौल; पूर्व गणित विभागाध्यक्ष एवं प्रभारी प्राचार्य, पी०जी० सेन्टर, सहरसा; भूतपूर्व विज्ञान संकायाध्यक्ष, भू०ना०मं० विश्वविद्यालय, मधेपुरा)

प्राक्कथन

प्राचीन भारत में आध्यात्मिक सिद्धान्तों के साथ-साथ वैज्ञानिक तथ्यों को स्थापित करने की भी परम्परा रही है। इस परम्परा के संवर्द्धन एवं परिपोषण में यहाँ के अनेकानेक विचारकों एवं वैज्ञानिकों का योगदान रहा है। ऐसे ही विचारकों की शृंखला में 5वीं शताब्दी के महान् वैज्ञानिक आर्यभट का नाम भी अंकित है जिन्होंने अपनी अप्रतिम प्रतिभा द्वारा नए-नए वैज्ञानिक तथ्यों का आविष्कार कर गणित एवं ज्योतिषशास्त्र को क्रमबद्ध एवं समृद्धिशाली बनाया। उनकी एकमात्र उपलब्ध रचना आर्यभटीय उनकी बहुमुखी प्रतिभा का प्रतीक है तथा वैज्ञानिक उपलब्धियों का परिचायक है। यही काररा है कि 5वीं शताब्दी से अद्यतन इस पर विभिन्न भारतीय भाषाओं में इसका अनुवाद किया गया तथा प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वानों द्वारा अनेक शोध-निबंध भी प्रकाशित किए गए, पर अभी तक आर्यभट के सम्पूर्ण जीवन, कृतित्व एवं व्यक्तित्व से सम्बन्धित हिन्दी में प्रामाणिक पुस्तक का अभाव सा ही है। फलस्वरूप हिन्दी भाषा-भाषियों को आर्यभट जैसे मौलिक वैज्ञानिक आविष्कर्त्ता की उपलब्धियों के ज्ञान से वंचित रहना पड़ा है। डा० परमेश्वर झा रचित पुस्तक 'भारतीय विज्ञान के महान् उन्नायक आर्यभट' इस अभाव को बहुत अंश में पूरा करती है। डा० झा ने भारतीय गणित के विभिन्न पहलुओं के साथ-साथ आर्यभट के गणितीय अवदान पर वर्षों शोध-कार्य किया है। इनके शोध-प्रबंध 'Aryabhata I & his Contributions to Mathematics' की महत्ता को ध्यान में रखते हुए बिहार रिसर्च सोसाईटी, पटना द्वारा इसका प्रकाशन किया गया। पुस्तक अंग्रेजी में होने के कारण शोध-कर्त्ताओं एवं अंग्रेजी के विद्वानों के लिए उपयोगी तो है ही, पर छात्रों एवं जन-साधारण के लिए उतनी नहीं। अत: आर्यभट के सम्बन्ध में नवीनतम सूचनाओं का संकलन कर हिन्दी में एक प्रामाणिक पुस्तक का प्रणयन कर उन्होंने एक सराहनीय कार्य किया है। इसमें आर्यभट के जीवन, उनके द्वारा प्रतिपादित गणित एवं

ज्योतिष के सिद्धान्तों तथा उनके अनुयायियों के सम्बन्ध में संक्षेप में ही, पर समुचित प्रमाणों के साथ विवेचना की गयी है। गणित एवं ज्योतिष के कठिन तथा दुरूह सूत्रों का सरल एवं बोधगम्य भाषा में प्रस्तुतीकरण इस पुस्तक की विशेषता है। मुझे विश्वास है, कि सामान्य पाठकों के साथ-साथ विशिष्ट प्रकार के अध्येताओं के लिए भी पुस्तक लाभप्रद सिद्ध होगी। लगन एवं मिहनत से पुस्तक के प्रणयन के लिए लेखक शतशः बधाई के पात्र हैं।

B.S. Yadav

प्रो० बी०एस० यादव,
भूतपूर्व गणित विभागाध्यक्ष,
एवं गणित विज्ञान संकायाध्यक्ष,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

27.10.'99

टी यू-67, विशाखा इन्कलेव,
पितमपुरा, दिल्ली-34
टेलीफोन : 7073878

प्रस्तावना

प्राचीन भारत के महान् वैज्ञानिक आर्यभट की पन्द्रहवीं जन्म-शताब्दी 1976 ई० में राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मनायी गयी। उस अवसर पर गोष्ठियों के साथ-साथ अन्य अकादमिक कार्यक्रमों का भी आयोजन किया गया। उससे एक वर्ष पूर्व 19 मई, 1975 ई० का वह दिन सदैव स्मरणीय रहेगा जिस दिन भारतीय वैज्ञानिकों द्वारा आर्यभट नामक स्वनिर्मित कृत्रिम भू-उपग्रह का सफलतापूर्वक प्रक्षेपण किया गया। आज के वैज्ञानिक युग में उपग्रह का निर्माण, उसका प्रक्षेपण तथा प्रयोग किसी भी राष्ट्र के लिए प्रतिष्ठा का द्योतक है। अपनी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि का नामकरण आर्यभट करना भारत की गौरवमयी परम्परा को पुनर्जीवित करने की दिशा में एक प्रगतिशील कदम है। पुनः वर्तमान वर्ष, 1999 ई० भी एक महत्वपूर्ण वर्ष है जो आर्यभट की एकमात्र उपलबध कृति आर्यभटीय की रचना का पन्द्रह सौवाँ वर्ष है। इस पुनीत अवसर पर 'भारतीय विज्ञान के महान् उन्नायक आर्यभट' नामक पुस्तक के प्रकाशन से लेखक को हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

आज से लगभग चालीस वर्ष पूर्व की बात है। शोध-कार्य के विषय के निर्धारण की समस्या आयी। भारतीय संस्कृति एवं विज्ञान को जानने-समझने की चिर प्रतीक्षित जिज्ञासा प्रबल हो गयी। उस समय भारतीय विज्ञान, गणित या ज्योतिष सम्बन्धी विषय में शोध करना कुछ कठिन था-श्रमसाध्य तथा व्यय-साध्य भी। तथापि लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आर्यभट के गणितीय अवदान को ही शोध का विषय निर्धारित किया। अनेक कठिनाइयों एवं विघ्न-बाधाओं को झेलते हुए गणित विभाग के तत्कालीन प्रोफेसर डा० डी०के० झा के सफल निदेशन में शोध-प्रबन्ध तैयार कर 1969 ई० में बिहार विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया गया। बी०एच०यू० के तत्कालीन गणित विभागाध्यक्ष, पद्मश्री प्रो० आर०एस० मिश्रा एवं कटक विश्वविद्यालय के गणित विभाग के तत्कालीन प्रो० डा० जी० शामल जैसे दो मूर्धन्य गणितज्ञों की अनुशंसा पर पीएच०डी० की उपाधि प्रदान की गयी। आर्यभट के गणितीय अवदान पर

सर्वप्रथम शोध-प्रबंध होने के कारण भारतीय गणित के क्षेत्र में इसकी महत्ता को ध्यान में रखते हुए बिहार रिसर्च सोसाईटी, पटना द्वारा 1988 ई० में 'आर्यभट वन एंड हिज कन्ट्रिब्यूशन्स टू मैथमैटिक्स' नामक (400 पृष्ठों की) पुस्तक का प्रकाशन किया गया। उसी समय से यह अनुभव किया जा रहा था कि आर्यभट से सम्बन्धित हिन्दी में एक प्रामाणिक पुस्तक का प्रकाशन किया जाना चाहिए। आज वह परिकल्पना साकार हो रही है-इसलिए प्रसन्नता है।

आर्यभट मौलिक वैज्ञानिक आविष्कर्त्ता थे। उन्होंने अपनी प्रतिभा द्वारा नए-नए तथ्यों एवं सिद्धान्तों को समाविष्ट कर गणित एवं ज्योतिषशास्त्र को क्रमबद्ध एवं समृद्धिशाली बनाया। प्राचीन भारत में वैज्ञानिक अनुसंधान की एक स्वस्थ परम्परा उन्होंने स्थापित की तथा अनुवर्त्ती ज्योतिषविदों के लिए पथ-प्रदर्शन का कार्य किया। उनकी वैज्ञानिक उपलब्धियों का परिचायक तथा भारत का सर्वाधिक प्राचीन उपलब्ध पौरूषेय ग्रंथ आर्यभटीय की ओर प्रारम्भ से ही यहाँ के विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ। फलतः संस्कृत के अतिरिक्त, हिन्दी, तेलुगु, मलयालम, मराठी आदि भाषाओं में इस पर विभिन्न युगों में अनेकानेक टीकाएँ लिखी गयीं। पाश्चात्य विद्वानों द्वारा भी अरबी, लैटिन अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, रूसी आदि भाषाओं में इसका अनुवाद किया गया, पर हिन्दी में उनके कृतित्व पर पूर्ण रूपेण स्वतंत्र पुस्तक का अभी भी अभाव ही है। इस अभाव की पूर्ति के लिए मित्रों एवं सहयोगियों द्वारा वर्षों से आग्रह होता रहा, पर समयाभाव के कारण यह सम्भव नहीं हो सका था। आज उनके प्रेमपूर्वक अनुरोध को पूरा करने में अत्यन्त आनंद की अनुभूति हो रही है।

इस पुस्तक के पाँच अध्यायों में आर्यभट के जीवन एवं उनकी वैज्ञानिक उपलब्धियों के विभिन्न पहलुओं को समायोजित करने का प्रयास किया गया है जिसमें अद्यतन उपलब्ध सभी सूचनाओं को समाविष्ट करने की चेष्टा की गयी है। गणितीय एवं ज्योतिष सम्बन्धी सिद्धान्तों को भी सरल एवं सुबोध भाषा में प्रस्तुत किया गया है जिससे गणित के साधारण ज्ञान के पाठकों को भी समझने में आसानी होगी। विशिष्ट प्रकार के अध्येताओं के लिए हर एक अध्याय के अन्त में संदर्भ-सूची भी दे दी गयी है।

इस पुस्तक के प्रणयन में अनेकानेक प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वानों की पुस्तकों से सहायता ली गयी है। विशेष कर शंकर बाल कृष्ण दीक्षित,

बी०बी०दत्ता, ए०एन० सिंह, कृपा शंकर शुक्ल, के०भी० शर्मा, बलदेव मिश्र, मुरलीधर ठाकुर, राम निवास राय, राधा चरण गुप्ता प्रभृत्ति विद्वानों की पुस्तकें प्रेरणास्रोत रही हैं-इसलिए उन सभी के प्रति आभार व्यक्त करना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ।

दिल्ली विश्वविद्यालय के भूतपूर्व गणित विभागाध्यक्ष एवं गणित विज्ञान संकायाध्यक्ष प्रो०(डा०) बी०एस०यादव का हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने प्राक्कथन लिखकर मुझे अनुगृहीत किया है।

अपने अनेक मित्रों एवं सहयोगियों का भी आभारी हूँ जिन्होंने इस पुस्तक को तैयार करने के लिए मुझे प्रेरित किया। हिन्दी के विद्वान एवं पूर्व में कालेज में रहे सहयोगी, वर्त्तमान में बिहार के स्वास्थ्य मंत्री डा० महावीर प्रसाद धन्यवादार्ह हैं जिनकी पुस्तक-प्रणयन एवं इसके प्रकाशन में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

पुस्तक के प्रणयन एवं प्रकाशन में परिवार के छोटे-बड़े सभी सदस्यों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है जिनके सहयोग के बिना यह कार्य सम्भव नहीं हो पाता।

प्रकाशक के साथ-साथ नेटबिट पब्लिशर्स, मुनिरका, नई दिल्ली के श्री अशोक कुमार भट्ट, प्रद्युम्न कुमार एवं धीरज सिंह का भी आभारी हूँ जिन्होंने बड़ी तत्परता एवं मिहनत से कम से कम समय में प्रकाशन का कार्य पूरा किया है।

अन्त में पूजनीया स्व० माता एवं पूज्य स्व० पिता को श्रद्धा-सुमन के रूप में यह पुस्तक सविनय समर्पित करता हूँ जिन लोगों की सत्प्रेरणा से ही भारतीय संस्कृति एवं विज्ञान की समृद्ध परम्परा को जानने-समझने तथा रहस्योद्घाटन करने की दिशा में अभिप्रेरित हो सका।

24.10.'99 **परमेश्वर झा**

शरद पूर्णिमा,

वि०सं० 2056

अनुक्रम

(1)

आर्यभट का व्यक्तित्व

1.1 प्रस्तावना : भारतीय संस्कृति अति प्राचीन है। इसकी समृद्ध परम्परा है और है इसका गौरवपूर्ण इतिहास। ऋषियों, मनीषियों एवं विचारकों के सत्प्रयास से इसका विकास निरन्तर होता रहा। फलस्वरूप समस्त संसार में इसे महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया। यह सत्य है कि सभ्यता के विकास में मिस्र, मेसोपोटामिया, यूनान आदि देशों का प्रशंसनीय योगदान रहा है; चीन और अरब का अवदान भी सराहनीय है, पर भारत अपनी विशिष्ट देन के कारण अग्रगण्य रहा है। विश्व के प्राचीनतम उपलब्ध ग्रंथ हैं वेद (3000 ई०पू०) जो उच्च सभ्यता एवं संस्कृति के द्योतक हैं। तत्पश्चात् ब्राह्मण, उपनिषद्, पुराण, रामायण एवं महाभारत जैसे अनेकानेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की यहाँ रचना हुई। इन ग्रंथों में जीवन के विभिन्न पहलुओं यथा ज्ञान एवं कर्म, अध्यात्म एवं विज्ञान, दर्शन एवं व्यावहारिक नियमों का विश्लेषण है। मानव-कल्याण के लिए धर्म एवं विज्ञान दोनों आवश्यक हैं, दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। भारतीय संस्कृति का प्राण है इन दोनों का समन्वय। यही कारण है, कि यहाँ के प्राचीन ग्रंथों में आध्यात्मिक सिद्धान्तों के साथ-साथ वैज्ञानिक तथ्य भी बीज रूप में पाए जाते हैं। यह सर्वथा सत्य है कि पुरातन काल में यहाँ विज्ञान का विकास स्वतंत्र रूप में न होकर धर्म के सहायक रूप में ही हुआ।

ज्योतिर्विज्ञान एवं गणित की नींव भी यहाँ आध्यात्मिक कार्यों के सुचारु रूपेण सम्पादन के लिए ही पड़ी। व्यवहार के लिए अत्यन्त उपयोगी दिन, सप्ताह, पक्ष, महीना, ऋतु, अयन एवं वर्ष का परिज्ञान हमें कालबोधक शास्त्र-ज्योतिषशास्त्र से ही होता है। प्राचीन काल से ही भारत यज्ञ-भूमि रहा है। अतः यज्ञ, धार्मिक व्रतादि कार्यों का सम्पादन उचित समय पर करने के लिए इस शास्त्र का ज्ञान आवश्यक है। वेदी-निर्माण एवं मुहूर्त्त की जानकारी इसी शास्त्र से होती है। वैदिक, लौकिक एवं सामाजिक कार्यों में भी गणितीय सिद्धातों का उपयोग होता है। वेदांग छः हैं जिनके बिना वैदिक ज्ञान अपूर्ण समझा जाता है। श्रुति-वाक्य है - 'षडंगो वेदोऽध्येयज्ञेयश्च'। वेद का नेत्र ज्योतिष है, कर्ण निरुक्त, नासिका शिक्षा, मुख व्याकरण, हाथ कल्प एवं पैर छंद हैं। इन छः अंगों में ज्योतिषशास्त्र का स्थान सर्वोपरि माना गया है। महात्मा लगध ने घोषित किया है :-

'यथा शिखा मयूराणां नागाणां मणयो यथा।
तद्वद्वेदांग शास्त्राणां गणितं (ज्योतिष) मूर्ध्नि सं स्थितम्।।'[1]

अर्थात् जिस प्रकार मयूरों की शिखाएं एवं नागों की मणियाँ हैं, उसी प्रकार वेदांग शास्त्रों

में गणित (ज्योतिषशास्त्र) का स्थान सबसे ऊँचा है। भारतीय संस्कृति के विकास में आगम के इस चक्षुस्थानीय अंग-ज्योतिष शास्त्र का विशिष्ट स्थान रहा है। ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण, यजुर्वेद, मैत्रायणी एवं तैत्तिरीय संहिताओं में ग्रहण, व्यतीपात, अयन, मुहूर्त्त, नक्षत्र-गणना, अंक-संज्ञाओं की सूची आदि विषयों का समावेश है। छांदोग्य उपनिषद् के अनुसार विद्याओं की सूची में नक्षत्र-विद्या एवं राशि-विद्या भी सम्मिलित है।[2] इस तरह आध्यात्मिक ग्रंथों में ऐसे अनेक उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं जिनसे प्रमाणित होता है कि भारत के प्राचीन युग में भी ज्योतिष के सिद्धान्तों का उपयोग होता था।

1.2 आर्यभट : ज्योतिर्विज्ञान सम्बन्धी स्वतंत्र ग्रंथों की रचना भी प्रचीन काल से ही होती रही है। वेदांग ज्योतिष (1200 ई०पू०), शुल्व-सूत्र (800 ई०पू०), सूर्य-प्रज्ञप्ति (500 ई०पू०), चन्द्र-प्रज्ञप्ति (500 ई०पू०), जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति, ज्योतिष्करण्डक (300-400 ई०पू०), गर्ग-संहिता, भद्रबाहु-संहिता (300 ई०पू०), सौर, पैतामह, वासिष्ठ, पाराशर, पौलिश जैसे ज्योतिष के अनेकानेक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत-ग्रंथों का निर्माण विभिन्न युगों में हुआ। भारतीय ज्योतिष-गणित की ऐसी ही विकसित पृष्ठभूमि में एक महान् विभूति-आर्यभट का प्रादुर्भाव हुआ। वे प्रखर एवं तेजस्वी प्रतिभा के धनी थे। वे प्रतिभाशाली ज्योतिषविद् एवं मेधावी गणितज्ञ थे। अपनी अप्रतिम प्रतिभा द्वारा नये-नये वैज्ञानिक तथ्यों का आविष्कार कर ज्योतिष-ज्ञान को विकसित करने में उन्होंने अभूतपूर्व योगदान दिया। मौलिक शोध एवं नयी-नयी विधियों की खोज में वे अग्रगण्य रहे। नवीन सिद्धान्तों को अपने ग्रंथ में समावेश कर ज्योतिषशास्त्र को क्रमबद्ध एवं समृद्धिशाली बनाया। फलस्वरूप उनकी कृतियाँ आज भी अपने विशिष्ट गुणों के कारण उज्ज्वल तारे की भाँति ज्योतिष-जगत में देदीप्यमान हैं। उनके वैज्ञानिक अवदान को सदैव स्मरण रखने के उद्देश्य से आधुनिक भारत की सबसे बड़ी उपलब्धि-प्रथम कृत्रिम भू-उपग्रह का नामकरण आर्यभट उपग्रह किया गया जिसका सफलतापूर्वक प्रक्षेपण 1975 ई० के 19 मई को किया गया। ऐसा कर भारत ने वस्तुत: अपने इस वरद पुत्र को श्रद्धांजलि अर्पित की है तथा यहाँ की गौरवपूर्ण परम्परा को पुनजीर्वित करने की दिशा में एक प्रगतिशील कदम उठाया है।

इस वैज्ञानिक के नाम को लिखने में भिन्नता पायी जाती है। कुछ विद्वान आर्यभट लिखते हैं तो कुछ आर्यभट्ट। भटका अर्थ है बहादुर अथवा सिपांही तथा भट्ट का अर्थ है विद्वान, दार्शनिक अथवा किसी ब्राह्मण के नाम के साथ पदवी। स्वभावत: आर्यभट्ट लिखना विशेष युक्तिसंगत है, पर उनकी रचना आर्यभटीय की उपलब्ध पांडुलिपियों एवं उस पर लिखी गयी विभिन्न टीकाओं में आर्यभट ही लिखा पाया जाता है। डा० भाऊदाजी, म०म० सुधाकर द्विवेदी, शंकर बालकृष्ण दीक्षित प्रभृति आधुनिक विद्वानों के मतानुसार भी आर्यभट लिखना ही उचित है क्योंकि आर्यभट्ट लिखने से आर्या छंद की मात्राओं में अन्तर आ जाता है जिस छंद में आर्यभट ने अपने ग्रंथ की रचना की है।[3] अत: आर्यभट से ही

उन्हें सम्बोधित करना अधिक उचित जँचता है। कुछ विद्वानों ने तो उन्हें आदर से आचार्यभट अथवा आचार्य आर्यभट नाम से भी सम्बोधित किया है।

प्राचीन भारत के ज्योतिषशास्त्र के इतिहास के अवलोकन से ज्ञात होता है कि 10वीं शताब्दी में इसी नाम के दूसरे ज्योतिषविद् भी हुए हैं जिन्होंने 'महा सिद्धान्त' नामक ग्रंथ की रचना की। इस क्रम में यह भी ध्यान देने की बात है कि कुछ विद्वानों ने दो की जगह तीन आर्यभट की चर्चा की है। विशेष कर अरबी विद्वान अल-बिरूनी (10वीं शताब्दी) ने आर्यभट वृद्ध, कुसुमपुर निवासी आर्यभट और आर्यभट-इन तीन व्यक्तियों का उल्लेख किया है, पर उनके द्वारा उद्धृत संदर्भों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ये सभी उद्धरण आर्यभटीय के ही हैं। इसलिए ये तीनों एक ही आर्यभट हैं और दूसरे आर्यभट तो अल-बिरूनी के समकालीन हैं। तीसरे आर्यभट अथवा उनके लिखे ग्रंथ की अभी तक कोई जानकारी नहीं मिल सकी है। अतएव ऐसा सोचना अभी कपोल कल्पित है। आर्यभटीय के रचनाकार आर्यभट को प्रथम आर्यभट कहने की परम्परा है और दशवीं शताब्दी के महा सिद्धांत के रचयिता को आर्यभट द्वितीय। इस पुस्तक में आर्यभट प्रथम के वैज्ञानिक अवदान का उल्लेख करना ही हम लोगो का अभीष्ट है।

1.3 **जन्म-काल** : प्राय: सभी प्राचीन भारतीय ग्रंथकारों ने अपने जीवन से सम्बन्धित तथ्यों को गुप्त रखने का प्रयास किया है। आर्यभट ने भी उसी सिद्धान्त का अनुसरण किया है। फलस्वरूप उनके व्यक्तिगत जीवन, परिवार, वंशज आदि के सम्बन्ध में अभी तक अत्यल्प सूचनाएँ उपलब्ध हो सकी हैं। उनकी रचना में यत्र-तत्र प्राप्त सूचनाओं, उस पर लिखी गयी टीकाओं तथा परवर्त्ती विद्वानों की रचनाओं के आंधार पर ही इस दिशा में कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

अपने जन्म-वर्ष के सम्बन्ध में आर्यभट ने स्वयं अभिलेखवद्ध किया है :-

'षष्ट्यब्द षष्टिर्यदा व्यतीतास्त्रयश्च युगपादा:।
त्र्यधिका विंशतिरब्दास्तदेह मम जन्मनोऽतीता:।। (आर्य० 3.10)

अर्थात् '60 संवत्सरों के 60 युग और तीन युगपाद (सत युग, त्रेता, द्वापर) जब बीत गए तब मेरे जन्म से 23 वर्ष बीत चुके थे।' 60 वर्षों के 60 युग = 3600 वर्ष। चार युगपादों-सतयुग, त्रेता, द्वापर एवं कलियुग में प्रथम तीन युग भी बीत गए। कलियुग के 3600 वर्ष बीतने पर उनकी अवस्था 23 वर्ष की थी। कलियुग का आरम्भ 18 फरवरी, 3102 ई०पू० अथवा 3179 शक पूर्व माना जाता हे। स्वभावत: (3600-3179) 421 शक अथवा 499 ई० में उनकी आयु के 23 वर्ष बीत चुके थे जिससे स्पष्ट है कि उनका जन्म 476 ई० में हुआ था। ज्ञातव्य है कि 60 वर्ष वाला एक चक्र गुरु वर्ष का है। गुरु वर्ष सौर वर्ष के साथ-साथ चलता है। मेष संक्रान्ति से आगे-पीछे कुछ घटियों पर गुरु वर्ष प्रारम्भ होता है। इसलिए 421 शक के मेष संक्रान्ति के दिन को ही आर्यभट का प्रादुर्भाव माना

गया है। इस तरह आर्यभट का जन्म गुप्त-काल (320 ई०-740 ई०) में हुआ था जो भारतीय इतिहास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण काल समझा जाता है। इस काल में साहित्य, विज्ञान एवं ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में अपूर्व प्रगति हुई। कालिदास, भवभूति, भारवि, माघ जैसे नाटककार एवं कवियों, दंडि, सुबन्धु एवं वाण जैसे गद्यकारों, भामह, चन्द्र, वामन, भर्तृहरि जैसे वैयाकरणों, अमर जैसे कोषकार, गौड़पाद, कुमारिल, प्रभाकर जैसे दार्शनिकों तथा आर्यभट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त जैसे उद्भट ज्योतिषविदों का आविर्भाव हुआ। संस्कृत-साहित्य के ऐसे ही स्वर्णयुग में आर्यभट जैसे महान् वैज्ञानिक का भी अवतरण हुआ।

1.4 निवास-स्थान : अपने निवास-स्थान के सम्बन्ध में उन्होंने संकेत किया है :-

'ब्रह्मकुशशिबुधभृगुविकुजगुरूकोणभगणान्नस्कृत्य।
आर्यभटस्त्विह निगदति कुसुम पुरेऽभ्यचिंतं ज्ञानम् ।। (आर्य० 2.1)

अर्थात् 'ब्रह्म, पृथ्वी, चन्द्रमा, बुध, शुक्र, सूर्य, मंगल, वृहस्पति, शनि तथा नक्षत्रों को प्रणाम कर आर्यभट इस कुसुमपुर में अतिशय पूजित ज्ञान का वर्णन करता है।' इस आर्या के दूसरे चरण से इस बात की जानकारी होती है कि आर्यभट ने कुसुमपुर में अपने ग्रंथ की रचना की है तथा कुसुमपुर के पूजित ज्ञान का विवेचन किया है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कुसुमपुर उनका जन्म स्थान था जहाँ उन्होंने गणित एवं ज्योतिष का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त किया तथा बाद में विद्वता प्राप्त होने पर ज्योतिष सम्बन्धी सिद्धान्तों को लिपिबद्ध किया। 'इह कुसुमपुरे' से यह संकेत मिलत है कि आर्यभट कुसुमपुर के निवासी थे। आर्यभट सम्बद्ध एक प्रचलित श्लोक से भी उक्त कथन की परिपूर्ण पुष्टि होती है जो निम्नांकित है :-

'सिद्धान्तपंचक विधावपि दृग्विरूद्धमौढ्योपरागमुखखेचरचारविलप्तो।
सूर्यः स्वयं कुसुम पुर्यभवत् कलौ तु भूगोलवित् कुलप आर्यभटाभिधानः।।'

अर्थात् 'पंच सिद्धान्त के रहते हुए भी ग्रहों के अस्त और ग्रहणदि विषयों में दृग्विरोध होते देख सूर्य कलियुग में कुसुमपुर में आर्यभट नाम से स्वयं अवतीर्ण हुए जो कुलप एवं भूगोलविद् थे।' अतः यह प्रायः निश्चित है कि आर्यभट का जन्म-स्थान कुसुमपुर ही है, पर आज कुसुमपुर नाम का कोई प्रमुख स्थान नहीं है। स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि यह स्थान कौन सा है? इस सम्बन्ध में ऐसे बहुत से ठोस प्रमाण उपलब्ध हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि कुसुमपुर आधुनिक पटना का ही एक प्राचीन नाम है। भिन्न-भिन्न युगों में पटना के भिन्न-भिन्न नाम रहे हैं, जैसे-पुष्पपुर, कुसुमपुर, पाटलिपुत्र, नंद नगर, श्रीनगर, अजिमाबाद, पलिमवोथरा आदि। गुप्त-काल की एक रचना 'धूर्त-वित-सम्वाद' के अनुसार कुसुमपुर की ख्याति विश्वभर में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। एक किंवदन्ती के अनुसार पटना का एक नाम पाटलिपुत्र था जिसकी स्थापना राजा पुत्रक के द्वारा की गयी थी जिसने पाटलि नामक कुमारी से विवाह किया था। इतिहासज्ञों के

अनुसार बुद्ध के बाद राजगृह की जगह मगध की राजधानी पाटलिपुत्र ही बना। यह भी माना जाता है कि उर्दायन ने गंगा के दक्षिणी किनारे पर कुसुमपुर नामक शहर की स्थापना की जो बाद में पाटलिपुत्र कहलाया। मगध के सम्राट अजातशत्रु ने वज्जियन राज्य से अपने राज्य को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से यहाँ पाटल का किला बनवाया।[4] ऐतिहासिक प्रमाणों के साथ-साथ साहित्यिक उद्धरणों से भी इस बात की पुष्टि होती है कि कुसुमपुर पटना का ही एक प्राचीन नाम है। रघुवंश में कालिदास के द्वारा इसे 'पुष्पपुर' एवं दशकुमार चरित में दंडी द्वारा 'पुष्प पुरी' कहा गया है। वायु पुराण में एक बड़े नगर कुसुमपुर की चर्चा की गयी है जो गंगा नदी के दक्षिणी किनारे पर अवस्थित है। मुद्राराक्षस से भी ज्ञात होता है कि पाटलिपुत्र का दूसरा नाम कुसुमपुर है। इस तरह यह प्रमाणित होता है कि कुसुमपुर बिहार की राजधानी पटना का ही एक प्राचीन नाम है। अन्य किसी प्राचीन ग्रंथ से दक्षिण में किसी प्रसिद्ध कुसुमपुर नामक नगर का वृत्तान्त नहीं प्राप्त होता। आधुनिक पटना (बिहार की राजधानी) के अतिरिक्त अन्य किसी नगर के कुसुमपुर होने की सम्भावना नहीं है, पर शंकर बालकृष्ण दीक्षित, टी०एस० कुप्पनशास्त्री तथा के० शाम्बशिव शास्त्री जैसे कुछ विद्वानों के अनुसार कुसुमपुर दक्षिण में खासकर केरल प्रांत में एक नगर रहा होगा जहाँ के निवासी आर्यभट थे। उनका तर्क है कि चूँकि उनकी पुस्तक की पांडुलिपियाँ अधिकतर उसी भाग में पायी गयी हैं, इसलिए आर्यभट वहीं के निवासी रहे होंगे, पर यह तर्क युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। किसी विशेष स्थान में किसी ग्रंथकार की रचना का उपलब्ध होना यह कदापि निश्चित नहीं कर सकता कि वह उसी स्थान का निवासी है। आर्यभट अपने युग के प्रतिष्ठा प्राप्त विद्वान थे। सम्भावना है कि उनके कुछ पटु शिष्य दक्षिण के ही रहने वाले हों जो अपने गुरु के ग्रंथ की पांडुलिपियों को अपने साथ ले गए हों तथा श्रद्धा-भक्ति से सुरक्षित रखे हों। दूसरा तर्क यह भी दिया जाता है कि आर्यभटीय के टीकाकार भास्कार प्रथम एवं नीलकंठ ने अपनी टीकाओं में आर्यभट को आश्मक कहा है और इसलिए वे अश्मक (संभवत: केरल) के ही रहने वाले होंगे। सम्भावना है कि उस समय अश्मक में ज्योतिषशास्त्र का केन्द्र रहा होगा जिसके संचालक आर्यभट के शिष्य रहे हों और इसलिए आर्यभट को भी आश्मक कह कर सम्बोधित किया गया हो। एस०पिल्लई के अनुसार दूसरी सम्भावना यह भी हो सकती है कि अश्मक उस समय पटना के निकट ही कोई छोटा गाँव रहा हो जहाँ आर्यभट का जन्म हुआ हो।[5] कुछ विद्वानों की यह भी धारणा है कि आर्यभट दरभंगा जिले के भटपुरा नामक गाँव के निवासी रहे हों जहाँ भट्ट पदवी के कुमारिल भट्ट जैसे अनेक प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान लगभग उसी समय में हो चुके थे, पर इसे प्रमाणित करने के लिए भी ठोस साक्ष्य का अभाव है। अत: अब तक उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यही सुनिश्चित होता है, कि आर्यभट उसकुसुमपुर के निवासी थे जो आधुनिक पटना का ही एक प्राचीन नाम है।

1.5 परिवार एवं पारिवारिक जीवन : आर्यभट के परिवार, वंशज एवं व्यक्तिगत जीवन के बारे में भी हम अभी अनभिज्ञ ही हैं और निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते। उनके ग्रंथों के अवलोकन से ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि वे जाति के ब्राह्मण थे, पर उनके गोत्र, पूर्वज अथवा वंशज के सम्बन्ध में कोई सूचना उपलब्ध नहीं हो सकी है। कुछ विद्वानों (खासकर एस० पिल्लई) के अनुसार आर्यभट विवाहित थे तथा उन्हें देवराजन नाम का एक सुयोग्य पुत्र था जो एक प्रकांड ज्योतिषविद् थे तथा जिन्होंने एक ज्योतिष-ग्रंथ की भी रचना की थी[6], पर इस सम्बन्ध में भी कोई ठोस प्रमाण प्राप्त नहीं हो सका है। इतनी बात सुनिश्चित होती है कि अध्यापन-कार्य ही उनका मुख्य व्यवसाय था जिसके कारण परवर्त्ती विद्वानों ने उन्हें आचार्य शब्द से सम्बोधित किया है तथा उनके अनेक शिष्यों की चर्चा भी की है। कहाँ और किस समय उनका देहावसान हुआ इसकी भी ठीक-ठीक जानकारी नहीं मिल पायी है, पर डी०ई० स्मिथ जैसे गणित के इतिहासज्ञ का मानना है कि 550 ई० में लगभग 74 वर्ष की आयु में आर्यभट इस लोक से चल बसे।[7]

1.6 धर्म : उनके धार्मिक विश्वास को जानने हेतु कतिपय तथ्य प्रकाश में आए हैं। उनके ग्रंथों के विभिन्न श्लोकों से इस बात की जानकारी होती है कि वे वेदान्त धर्मानुयायी थे। उन्होंने ब्रह्मा की प्रार्थना इन शब्दों में की है :-

'प्रणिपत्यैकमनेकं कं सत्यां देवतां परं ब्रह्म।
आर्यभटस्त्रीणि गदति गणितं कालक्रियां गोलम्।। (आर्य०1.1)

अर्थात् 'जो ब्रह्मा कारण रूप से एक होते हुए भी कार्य रूप से अनेक है, जो सत्यदेवता, परम ब्रह्म अर्थात् जगत का मूल कारण है, उसे मन, वाणी और कर्म से नमस्कार करके आर्यभट गणित, कालक्रिया और गोल-इन तीनों का वर्णन करता है।' पुनः वे घोषणा करते हैं :-

'दशगीतिका सूत्रमिदं भूग्रहचरितं भपञ्जरे ज्ञात्वा।
ग्रहभगणपरिभ्रमणं स याति भित्त्वा परं ब्रह्म ।। (आर्य०1.13)

अर्थात् 'नक्षत्र मंडल में पृथ्वी तथा ग्रहों के गमन का वर्णन करने वाले इन दश गीतिका सूत्रों को जो गणितवेत्ता जानता है, वह ग्रहों एवं नक्षत्रों के मंडलों को भेद कर परम ब्रह्म को प्राप्त करता है।' इससे यह अनुमान्य है कि आर्यभट के अनुसार ब्रह्मांड के पूर्ण ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है अर्थात् जीवात्मा का परमात्मा के साथ एकीकरण हो जाता है। फिर आर्यभटीय के गणितपाद की प्रथम आर्या में वे ब्रह्मा को प्रणाम करते हैं जिसका प्रकटीकरण पृथ्वी, चन्द्रमा, बुध, शुक्र, सूर्य, मंगल, वृहस्पति, शनि एवं नक्षत्रों के रूप मे होता है। आर्यभटीय के गोलपाद की अन्तिम दो आर्याओं में भी इसी सिद्धान्त का विवेचन

मिलता है। इस तरह उपरोक्त आर्याओं में वेदान्त के मूलभुत प्राय: सभी अवयव विद्यमान हैं। छांदोग्य उपनिषद् के 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म', मंडकोपनिषद् के 'ब्रह्म एव इदं विश्व', वृहदारण्यक के 'अयम् आत्मा ब्रह्म' एवं 'अहं ब्रह्म अस्मि' आदि वेदान्त दर्शन सम्बन्धी सिद्धान्तों का ही प्रभाव इन आर्याओं में परिलक्षित होता है। अत: वे वेदान्त धर्मावलम्बी थे-यह प्राय: निश्चित है। यह सर्व विदित है कि उनके समय भारत में बौद्ध धर्म का पूर्ण रूपेण प्रचार-प्रसार था तथा पटना तो उसका केन्द्र ही था, पर इसका आर्यभट पर कोई असर नहीं पड़ा। वेदान्त धर्म पर वे उस परिस्थिति में भी अटल रहे। परवर्त्ती गणितज्ञ-ब्रह्मगुप्त, भास्कर प्रथम, लल्ल, श्रीधर शैव थे, महावीराचार्य जैन थे तथा वराहमिहिर एवं भास्कर द्वितीय सूर्य के उपासक थे, पर आर्यभट ने किसी देवता विशेष की आराधना नहीं की। सिर्फ उन्होंने परम ब्रह्म की प्रार्थना की है और इस तरह वेदान्त दर्शन के प्रारम्भिक विचारकों में आर्यभट की गिनती की जा सकती है।

1.7 शिक्षा एवं योग्यता : आर्यभट ने किस विद्यालय में किस गुरु से प्रारम्भिक शिक्षा ग्रहण की तथा गणित-ज्योतिष का उच्च ज्ञान प्राप्त किया-इस सम्बन्ध में कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सका है। यह विदित है कि उस समय पटना शिक्षा, संस्कृत एवं कला का मुख्य केन्द्र था तथा इसके निकट ही अवस्थित नालान्दा विश्वविद्यालय के प्रसिद्धि प्राप्त विद्वानों से शिक्षा प्राप्त करने के लिए विश्व के कोने-कोने से छात्र आते थे। यहाँ ध र्म-दर्शन, कला-विज्ञान के साथ-साथ गणित एवं ज्योतिषशास्त्र के अध्यापन की विशेष व्यवस्था थी, वेधशाला एवं घंटी यंत्र (Clepsydra) का भी प्रबंध था।[8] सम्भावना है, पटना में उन्हें प्रारम्भिक शिक्षा मिली हो तथा नालन्दा विश्वविद्यालय के विद्वान शिक्षकों से गणित ज्योतिष की उच्च शिक्षा प्राप्त हुई हो। उनके प्रदत्त सिद्धान्तों में तीक्ष्ण वुद्धि एवं प्रखर प्रतिभा के साथ-साथ उनका अबाध ज्ञान स्वयमेव परिलक्षित होता है। उनके ग्रंथ से इस तथ्य की भी पुष्टि होती है कि उन्हें संस्कृत व्याकरण एवं वैदिक साहित्य का तो अच्छा ज्ञान था ही, साथ ही संस्कृत साहित्य की विभिन्न विधाओं से भी वे सुपरिचित थे। वेदांगों, उपनिषदों, ब्राह्मण ग्रंथों, दार्शनिक ग्रंथों के साथ-साथ उन्होंने अपने पूर्ववर्त्ती विद्वानों द्वारा रचित गणित-ज्योतिष के ग्रंथों का भी अध्ययन किया था। चूँकि वे प्रकांड विद्वान थे, इसलिए उस समय यहाँ की प्रचलित कम से कम तीन भाषाओं- प्राकृत, अपभ्रंश एवं संस्कृत का भी उन्हें ज्ञान था। तत्कालीन धार्मिक कृत्यों में भिन्न-भिन्न यज्ञों के लिए उपयुक्त वेदियों की रचना, याज्ञिक कर्मों के मुहूर्त्त आदि के ठीक-ठीक ज्ञान के लिए ज्योतिष का ज्ञान आवश्यक समझा जाता था। इसलिए उनका ध्यान गणित-ज्योतिष के अध्ययन की ओर विशेष रूप से आकर्षित-केन्द्रित हुआ। वे कुशाग्र बुद्धि के थे। बाल्यावस्था से ही नए-नए आविष्कारों की ओर जागरुक रहे। पैनी दृष्टि एवं उच्चस्तरीय विश्लेषण के आधार पर सत्य की खोज में निमग्न रहे। उन्होंने तत्कालीन ग्रंथों एवं सिद्धान्तों

का अवलोकन तो अवश्य किया, पर अपनी बुद्धि से परीक्षण एवं परिशोधन कर सत्य का अन्वेषण किया। उनकी निम्नलिखित मेधापूर्ण अभियुक्ति द्रष्टब्य है :-

'सदसज्ज्ञानसमुद्रात् समुद्धतं देवता प्रसादेन।
सज्ज्ञानोत्तमरत्नं मया निमग्नं स्वमतिनावा।। (आर्य० 4.49)

अर्थात् ' जो यथार्थ ज्ञान का उत्तम रत्न यथार्थ एवं मिथ्या ज्ञान के समुद्र में डूबा हुआ था उसे मैनें देवता के प्रसाद से, अपनी बुद्धि रूपी नाव की सहायता से निकाला है।' पुन: 'आर्यभटीयं नाम्नां पूर्वं स्वायम्भुवं सदा सद्यत्' (आर्य०4.50) से ज्ञात होता है कि उन्होंने केवल ब्रह्म (स्वायम्भु) सिद्धान्त को ही अपनी रचना का आधार माना है। इसलिए अपने ग्रंथ में उन्होंने न तो किसी दूसरे ग्रंथ की और न किसी आचार्य की चर्चा की है। इससे ब्रह्म सिद्धान्त में उनकी अगाध श्रद्धा का अनुमान लगाया जा सकता है। उस ज्ञान रत्न को जीवित रखना ही उनका अभीष्ट था। कालान्तर से उत्पन्न अशुद्धि को शुद्ध कर उन्हीं महत्त्वपूर्ण सिद्धातों का उन्होंने फिर से निरूपण किया। यह उनकी विशेषता है कि अन्य आचार्यों से भिन्नता रहने पर भी उन्होनें उनकी आलोचना नहीं की। उनकी कृति आर्यभटीय उनकी वैज्ञानिक उपलब्धि का परिचायक है। ऐसे मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण ग्रंथ की रचना उन्होंने 23 वर्ष की आयु में ही की जिससे इसकी पुष्टि होती है कि बाल्यावस्था में ही उन्होंने गणित एवं ज्योतिष में उच्च कोटि का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। यह अवस्था (20 से 25 वर्ष की अवस्था) विशिष्ट ज्ञान-संपादन के लिए साधारणतया उपयुक्त मानी गयी है। इसी उम्र में प्रतिभावान व्यक्ति की प्रतिभा विशेष रूप से प्रस्फुटित होती है। शंकराचार्य, रामानुजम, विवेकानन्द, न्यूटन जैसे अनेकानेक मनीषियों एवं वैज्ञानिकों की भाँति आर्यभट ने भी अत्यल्प उम्र में ही अपने विषय में उच्चतम ज्ञान की प्राप्ति की।

भारतीय वैज्ञानिकों में आर्यभट के शीर्षस्थ स्थान प्राप्त करने का मुख्य कारण यह है कि उन्होंने विश्व-संरचना तथा गणितीय सिद्धान्तों के निर्माण में क्रांतिकारी कदम उठाया जो बहुत दूर तक आधुनिक युग के अनुकूल था। सम्भवत: वे विश्व के सर्वप्रथम वैज्ञानिक हैं जिन्होंने नि:संदिग्ध शब्दों में घोषणाकी कि पृथ्वी गोल है, यह चल है तथा प्रतिदिन अपनी धुरी के चारों ओर घूमती है। उन्होंने घोषणा की। 'प्राणेनैति कलां भू:' (आर्य०1.4) अर्थात् 'भूमि प्राण नामक काल परिमाण में एककला चलती है' जिसमें पृथ्वी की दैनिक गति का स्पष्ट उल्लेख है। यह वह सत्य है जिसके आविष्कारके लिए पाश्चात्य देशों को कोपर्निकस (1473-1547) की प्रतीक्षा करनी पड़ी। आधुनिक साधन के अभाव में भी कोपर्निकस् से 1000 वर्ष पूर्व ही ऐसे महान् सत्य के रहस्योद्घाटन करने में आर्यभट सक्षम हो सके-यह आश्चर्य की ही बात कही जा सकती है। ग्रहण के सम्बन्ध में प्राचीन काल से चले आ रहे राहु-केतु सिद्धान्त का उन्होंने खंडन किया तथा उसके वैज्ञानिक कारणों की खोज की। उन्होंने बतलाया कि सूर्य-ग्रहण में चन्द्रमा सूर्य को आच्छादित कर लेता है

तथा चन्द्र-ग्रहण में पृथ्वी की छाया चाँद को ढ़क लेती है। साथ ही उन्होंने उसके साधन की वैज्ञानिक विधि भी प्रतिपादित की। उनकी युग-कल्पना भी अन्य ज़्योतिषियों से कुछ भिन्न ही है। उनके मतानुसार कल्प अथवा ब्रह्मा के एक दिन में 1000 युग होते हैं तथायुगपाद के वर्षमान् बराबर होते हैं, पर अन्य ज्योतिषियों के अनुसार इनके वर्षमान् 4:3:2:1 के अनुपात में हैं। साथ ही उनके ग्रंथ सेयह भी ज्ञात होता है कि उन्हें गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त का भी ज्ञान था। वास्तव में आर्यभट ने भारतीय विज्ञान के नए युग का सूत्रपात किया जिस वैज्ञानिक परम्परा में विज्ञान को अंधविश्वास से परे ले जाया गया। वे अपने विचार में स्वतंत्र हैं। उनके सिद्धान्त विलक्षण हैं तथा स्वातन्त्र्य सूचक हैं। ज्योतिष प्रत्यक्ष शास्त्र है। इसमें जो युक्तिसंगत हो, जिसमें प्रत्यक्षता हो, वही मान्य है। इसे उन्होंने सिद्धान्त-निरूपण में अपनाया, केवल शास्त्र-पुराणों में वर्णित सिद्धान्तों को ही नहीं ग्रहण किया। फलस्वरूप वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त आदि परवर्त्ती आचार्यों ने उनकी कटु आलोचना भी की, पर उनके आचार्यत्व एवं वैज्ञानिक तथ्यों के सामने उन्हें भी झुकना पड़ा। ज्योतिष के इन मौलिक सिद्धान्तों तथा उनके द्वारा वर्णित यंत्रों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे ग्रह-वेध की क्रिया से भी सुपरिचित थे। वेध-क्रिया द्वारा ग्रहगणित की वास्तविकता का उन्होंने अध्ययन किया तथा तदनुकूल सिद्धान्तों का निरूपण किया। इसलिए यदि यह कहा जाय कि आर्यभट भारतीय ज्योतिषशास्त्र के निर्माता थे तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

इतना ही नहीं, आर्यभट भारत के सर्व प्रथम ज्योतिषविद् हैं जिन्होंने अपने ज्योतिष-ग्रंथ में गणित सम्बन्धी सूत्रों की वैज्ञानिक रीति से स्थापना की तथा परवर्त्ती विद्वानों के लिए प्रेरणा प्रदान की। इसी परम्परा का अनुकरण कर ब्रह्मगुप्त (598ई०), भास्कर प्रथम, लल्ल, महावीराचार्य, श्रीधराचार्य, भास्कर द्वितीय (1114 ई०) प्रभृत्ति जयोतिषविद् भारतीय गणित को विकसित करने में सफल हो सके। गणित में उन्होंने अक्षरों एवं मात्राओं द्वारा संख्या लिखने की एक अनोखी रीति का निर्माण किया जिसके फलस्वरूप आर्यभटीय के दशगीतिकापाद (सिर्फ 13 श्लोकों) में उतनी सामग्री भर दी गयी है जितनी सूर्य-सिद्धान्त के पूरे मध्यमाधिकार तथाकुछ स्पष्टाधिकार में आयी है। इस नवीन पद्धति का आविष्कार इनकी विलक्षण बुद्धि का परिचायक है। गणित के क्षेत्र में सम्भवतः सबसे अधिक क्रांतिकारी कदम हुआ है दशमलव पद्धति का आविष्कार जो भारत की ही देन है[9]। यह भी सर्वमान्य है कि यहीं से इस प्रणाली का प्रचार अरब में हुआ जहाँ से अन्य पाश्चात्य देशों के विद्वानों ने इसे अपनाया। विभिन्न शिलालेखों पर पाए गए लिखे अंकों से ज्ञात होता है कि भारत में ईसा के पूर्व से ही इस पद्धति के माध्यम से अंक लिखने की प्रणाली प्रचलित थी, पर गणितीय ग्रंथों में आर्यभट ने ही सर्वप्रथम इसका उपयोग किया। दशगुणोत्तर संख्याओं के नाम, वर्गमूल एवं घनमूल निकालने की विधियाँ आदि इस के प्रमाण हैं। ब्याज

सम्बन्धी प्रश्न, त्रैराशिक नियम, भिन्नों के गुणा एवं भाग, व्युत्क्रम नियम, आदि अनेक नियमों का विवेचन कर उन्होंने अंकगणित के क्षेत्र में क्रांति ला दी।

तादात्म्य, श्रेढ़ी व्यवहार, चितिघन सम्बन्धी विभिन्न सूत्र, एक घातीय, द्विघातीय एवं प्रथम घातीय अनिर्णित समीकरणें के हल के साधन आदि बीजगणितीय सिद्धान्तों के आविष्कार आर्यभट ने किए। जिस अनिर्णित समीकरण के हल करने के साधन के आविष्कर्त्ता फ्रांस के बैचेत डी मैजेरिएक (17वीं शताब्दी) माने जाते हैं, उस विषय का विवेचन भारत में उनसे 1200 वर्ष पूर्व ही आर्यभट ने किया था। यही कारण है कि विद्वानों ने आर्यभट को बीजगणित का जनक कहा है। युगों से गणितज्ञों के लिए जो एक बड़ी समस्या बनी रही है, वह है किसी वृत्त की परिधि एवं उसके व्यास का अनुपात अर्थात् पाई (π) का मान निकालना। आर्यभट के अनुसार उसका मान 3.1416 है जो इसके आधुनिक मान (3.14159) से बहुत ही निकट है। ऐसे सही मान को भी उन्होंने आसन्न ही कहा है जिससे प्रमाणित होता है कि उन्हें इसका भी ज्ञान था कि पाई का मान इससे भी सूक्ष्मतर हो सकता है। आश्चर्य की बात है कि जहाँ उन्होंने त्रिभुज एवं वृत्त के क्षेत्रफलों के लिए पूर्णतः शुद्ध सूत्र दिए हैं, वहीं त्रिभुजाकार ठोस एवं गोल के घनमूल सम्बन्धी उनके सूत्र अशुद्ध हैं। त्रिकोणमितीय फलनों में ज्या की स्पष्ट रूप से व्याख्या सबसे पहले भारतवासियों ने ही दी थी। आर्यभट ने सर्वप्रथम इसका प्रयोग भी किया। साथ ही ज्या-अन्तरों तथा ज्याओं की सारणी भी उन्होंने प्रस्तुत की जिनके मान आधुनिक मान से बहुत ही निकट हैं। इस तरह उन्होंने सिर्फ ज्योतिषशास्त्र को ही विकसित नहीं किया, गणित की विभिन्न शाखाओं की ठोस नींव भी डाली। जिन सूत्रों की उपपत्तियों के आविष्कार का श्रेय आज पाश्चात्य गाणितज्ञों को दिया जाता है, आर्यभट ने उन्हें कई शताब्दियाँ पूर्व ही अपने ग्रंथ में लिपिबद्ध किया है। इन तथ्यों से यह प्रतिपादित होता है कि आर्यभट भारतीय गणित के अत्युत्कृष्ट निर्माता थे।

1.8 उनकी वृत्ति : आर्यभट व्यवसाय से एक शिक्षक थे तथा इस रूप में उन्हें पूरी प्रतिष्ठा मिली। उनके सम्बन्ध में प्रचलित एक श्लोक में उन्हें 'कुलप' से विभूषित किया गया है जिसका अर्थ है किसी विश्वविद्यालय का कुलपति, पर इस तथ्य की पुष्टि अभी तक नहीं हो पायी है कि वे किस विश्वविद्यालय के कुलपति थे। चूँकि ज्योतिष के प्रकांड विद्वान एवं यशस्वी शिक्षक के रूप में उनकी प्रतिष्ठा सर्वत्र फैल चुकी थी, इसलिए सम्भावना है कि उस समय के प्रसिद्ध नालन्दा विश्वविद्यालय में उनकी नियुक्ति कुलपति के रूप में हुई हो। विभिन्न सूत्रों से उनके शिष्यों के सम्बन्ध में जो सूचनाएँ उपलब्ध हुई हैं, उनमें प्रभाकर की चर्चा सर्व प्रथम आती है। भास्कर प्रथम ने आर्यभटीय-भाष्य में आर्यभट के पटुशिष्य तथा आर्यभटीय के एक टीकाकार प्रभाकर की आलोचना की है। भास्कर द्वितीय ने भी लल्ल रचित शिष्य धीवृद्धद (स्पष्ट 10.43) की टीका में आर्यभट

के एक प्रधान शिष्य के रूप में प्रभाकर की चर्चा की है। परमेश्वर ने लल्लाचार्य को भी आर्यभट का शिष्य क़हा है, पर इसके लिए कोई ठोस प्रमाण नहीं है। फिर भास्कर प्रथम के कथन (आर्य०भाष्य, आ०3.10 की टीका) से इस बात की जानकारी होती है कि पांडुरंगस्वामी, लाटदेव, नि:शंकु एवं अन्य शिष्यों को अध्यापन के क्रम में आर्यभट ने स्वयं गणित एवं ज्योतिष के कठिन सिद्धान्तों की विवेचना की। इन शिष्यों में सबसे प्रमुख लाटदेव समझे जाते हैं जिनका समय 505 ई० है। वराहमिहिर, श्रीपति आदि विद्वानों के मतानुसार लाटदेव ने दो जयोतिष-ग्रंथों की रचना की और वे हैं रोमक एवं पौलिश सिद्धान्त-ग्रंथों की टीकाएँ। ये पुस्तकें आर्यभटीय की तरह आर्या छन्द में ही लिखी गयी हैं। लाटदेव के पांडित्य का अनुमान इससे भी लगाया जा सकता है कि भास्कार प्रथम ने उन्हें आचार्य, सर्व-सिद्धान्त-गुरू आदि विशेषणों से सम्बोधित किया है। ब्रह्मगुप्त तथा उनके टीकाकार पृथुदकस्वामी (860 ई०)ने भी उनके सिद्धान्तों को उद्धृत किया है। इन शिष्यों के अतिरिक्त आर्यभट की विद्वता से प्रभावित होकर अन्य अनेक शिष्यों ने भी उनसे ज्योतिषशास्त्र का गम्भीर अध्ययन कर पांडित्य प्राप्त किया होगा जिनके सम्बन्ध में अभी भी खोज करने की आवश्यकता है।

1.9 **प्रशंसा एवं आलोचना :** आर्यभट मौलिक वैज्ञानिक आविष्कर्त्ता थे। अत: वे अपने समय से ही विख्यात हो गए। परवर्त्ती विद्वानों ने उन्हें बहुत सम्मान के साथ स्मरण किया है। भास्कर प्रथम ने महाभास्करीय में उन्हें श्रीमद्‌भट, प्रभो, प्रभु आदि विशेषणों से विभूषित किया है तथा उनकी कृति को 'तपोभिराप्त' अर्थात्‌ 'तप सें प्राप्त किंया हुआ' कहा है। इतना ही नही, उन्होंने अपनी दूसरी कृति 'लघुभास्करीय' (1.2-3) में उनकी अभ्यर्थना निम्न रूप में की है : "उन आर्यभट की जय हो जिनका ज्योतिष शास्त्र बहुत काल तक सुदूर देशों में स्फुट फल देता है और जिनका सुन्दर यश सागर के पार तक पहुँच गया है। आर्यभट के अतिरिक्त अन्य कोई ग्रहों की गति जानने में समर्थ नही है। अन्य लोग गहन अंधकार के समुद्र में घूम रहे है।" आर्यभट की महानता का परिचय उस प्रचलित श्लोक से भी मिलता है जिसमें उन्हे 'कलियुग का साक्षात्‌ सूर्यावतार' कहा गया है। गोविन्द स्वामी एवं परमेश्वर ने महाभास्करीय के भाष्य में उन्हें 'भगवानार्यभट' भी कह डाला है। आर्यभट द्वितीय (950 ई०) ने अपने ग्रंथ महासिद्धान्त (13.14) में स्वीकार किया है कि वृद्ध आर्यभट के सिद्धान्तों को ही मैं अपनी भाषा में लिख रहा हूँ। सूर्यदेव यज्वा (आर्यभटीय के टीकाकार), सूर्यदास (1541 ई०) आदि ने भी उनकी विद्वता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

चूँकि आर्यभट स्वतंत्र मत के संस्थापक थे, इसलिए कुछ परवर्त्ती विद्वानों ने उनके सिद्धान्तों की आलोचना भी की है, पर जिन विद्वानों ने उनकी आलोचना की है, उन्होंने भी उनकी विद्वता एवं मौलिकता की गाथा गायी है। ऐसा समझा जाताहै कि वराहमिहिर

(505 ई०) जो फलित ज्योतिष के प्रकांड विद्वान थे, मगध के ही निवासी थे तथा आर्यभट के समकालीन थे। आर्यभट की प्रख्याति से यहाँ रहकर जीविकोपार्जन में कठिनाई का अनुमान कर उन्होंने अपने कर्म क्षेत्र के स्थानान्तरण करने का निश्चय किया। वे उज्जैन चले गए जहाँ उन्हें विशेष रूप से सम्मान प्राप्त हुआ। स्वभावत: आर्यभट से उन्हें ईर्ष्या होने लगी। फलस्वरूप उनके द्वारा प्रतिपादित वैज्ञानिक सिद्धान्तों खासकर भू-भ्रमण के सिद्धान्त की वराहमिहिर ने कटु आलोचना की तथा उसका खंडन भी किया।[10] फिर गणक-चक्र-चूड़ामणि ब्रह्मगुप्त (598 ई०) भी उनके तीव्र समालोचक थे। जिस ब्रह्मगुप्त ने 30 वर्ष की आयु में अपने प्रसिद्ध ज्योतिष-ग्रंथ 'ब्राह्म-स्फुट-सिद्धांत' के अनेक स्थलों पर आर्यभट की तीव्र आलोचना की, उनके सिद्धान्तों में दोष दिखलाया तथा उनके मंतव्यों का खंडन किया, उन्होंने ही 69 वर्ष की अवस्था में अपनी दूसरी पुस्तक 'खंडखाद्यक' में आर्यभट के मत का अवलम्बन किया है। सम्भावना है, कि आर्यभटीय की लोकप्रियता के कारण 'ब्राह्म-स्फुट-सिद्धांत' लोकप्रिय नहीं हो सका हो, गम्भीर अध्ययन होने पर आर्यभट द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के महत्त्व को समझ लिए हों अथवा अपने करण ग्रंथ 'खंडरवाद्यक' को जनप्रिय बनाना चाहते हों। फलस्वरूप इस दूसरे ग्रंथ में उन्होंने आर्यभट की विद्वता की भरपूर सराहना की तथा उन्हें आचार्य आर्यभट कह कर सम्बोधित किया। इतना ही नहीं, उन्होंने घोषणा की, कि आर्यभटीय की तरह ही खंडरवाद्यक से भी सूक्ष्म गणना का फल मिलेगा। फिर उन्होंने आर्यभटीय की गुरुता एवं महत्ता की चर्चा करते हुए कहा कि व्यावहारिक ज्ञान के लिए इसके सिद्धान्त उपयोगी नहीं हो सकते, इसलिए उन्हीं सिद्धान्तों को इस छोटे ग्रंथ में समाहित किया गया है।[11] वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त की आलोचना के बावजूद आर्यभट एवं उनके सिद्धान्त बुद्धि जीवियों के बीच सदैव आदरणीय रहे। बटेश्वराचार्य (880 ई०) ने तो आर्यभट के मत का समर्थन किया ही, बह्मगुप्त के सिद्धान्तों का खंडन कर उसकी कटु आलोचना भी की।[12] ब्राह्म-स्फुट-सिद्धांत के टीकाकार चतुर्वेदाचार्य ने भी आर्यभट के सिद्धान्तों में ब्रह्मगुप्त के दोष दिखलाने की प्रवृत्ति को राजाज्ञा की संज्ञा दी है तथा ब्रह्मगुप्त की आलोचना को तथ्यहीन कहा है। प्राचीन भारत के सर्वश्रेष्ठ गणितज्ञ भास्कराचार्य द्वितीय (1114 ई०) ने स्पष्ट शब्दों में आर्यभट की प्रशंसा तो नहीं की है, पर उनके सिद्धान्तों को उन्होंने भी अपने ग्रंथों में उद्धृत किया है। इतना ही नहीं, पाई (π) के दो मानों में सूक्ष्म मान के रूप में आर्यभट द्वारा स्थापित मान को ही ग्रहण किया है।[13] अरबी विद्वान अल-बिरूनी (11वीं शताब्दी) जिन्होंने भारत में वर्षो रहकर प्राचीन ग्रंथों का अध्ययन किया, अपनी कृति 'भारत' में आर्यभट की बार-बार चर्चा करते हैं, उनकी मौलिकता की सराहना करते है तथा ब्रह्मगुप्त द्वारा की गयी आलोचना की निंदा भी करते है।[14] भारत में तो परवर्त्ती गणितज्ञों ने आर्यभट के सिद्धान्तों को अपनाया ही है, भारत के बाहर भी खासकर अरब के विद्वानों ने उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को ग्रहण

कर उनकी विशिष्टता की सराहना की है। अरबी विद्वानों के माध्यम से ही समय के अन्तराल में आर्यभट के मौलिक वैज्ञानिक सिद्धान्त पाश्चात्य देशों में हस्तान्तरित हुए जो आधुनिक रूप में पल्लवित एवं पुष्पित हुए।

संदर्भ-सूची

1. वेदांग ज्योतिष, डा०आर० शामशास्त्री (सं०), मैसूर, 1926, श्लोक 4।
2. द्रष्टव्य, शंकर बालकृष्ण दीक्षित, भारतीय ज्योतिष, लखनऊ, 1963, पृ०19-93।
3. वही, पृ० 263; डा० भाऊदाजी, दि लिटररी रिमेंस, कलकत्ता, 1887, पृ०222 एवं सुधाकर द्विवेदी, गणक तरंगिणी, बनारस, 1910, पृ०2।
4. द्रष्टव्य, आर०के० चौधरी, हिस्टरी आफ बिहार, दिल्ली, 1958, पृ० 17; जे०एन० समादार, दि ग्लोरीज आफ मगध, पटना, 1924, पृ० 39-40 तथा के०एम० पनिक्कर, ए सर्वे आफ इंडियन हिस्टरी, बम्बई, 1966, पृ० 37-38।
5. इंडियन रेम्यु, अंक 6(1905), पृ० 486।
6. वही।
7. हिस्टरी आफ मैथमैटिक्स, भाग 1, न्यू यार्क, 1958 पृ० 153 (फुट नोट)।
8. डी०जी० आप्टे, यूनिवर्सिटीज इन एंसिएंट इंडिया, पृ०30।
9. द्रष्टव्य, दत्ता एवं सिंह, हिस्टरी आफ हिन्दू मैथमैटिक्स, भाग 1, बम्बई 1962 पृ०87।
10. पंच सिद्धान्तिका, 15.20।
11. खंडखाद्यक, 1.1-2।
12. वटेश्वर सिद्धांत, मध्यमा०, 43-45।
13. सिद्धान्त शिरोमणि, गोला०, भुवन०, 52 (वासना)।
14. अल-बिरूनी, इंडिया, इंगलिश अनुवाद द्वारा ई०सी०साचौ, लंदन, 1910, भाग-1 पृ०376।

(2)

आर्यभट का कृतित्व

2.1 रचनाएँ : महान् पुरुषों की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ उन्हें अमर बनाती हैं तथा लोगों के लिए सदैव प्रेरणा-स्रोत बनी रहती हैं। महान् वैज्ञानिक आर्यभट की रचनाएँ भी उनकी अजर-अमर कृति-पताकाएँ हैं जो प्रकाश-स्तम्भ के रूप में हमारा पथ-प्रदर्शन सदियों से करती रही हैं। आर्यभट बहुमुखी प्रतिभा के विद्वान थे। ऐसी सम्भावना है, कि गणित-ज्योतिष के अतिरिक्त धर्म, दर्शन आदि ज्ञान की अन्य शाखाओं से सम्बन्धित ग्रंथों की भी उन्होंने रचना की हो, पर समय के अन्तराल में वे काल कवलित हो गए। विभिन्न सूत्रों से उपलब्ध सूचनाओं के आधार पर यह अब निश्चित रूप से कहा जा सकता है, कि उन्होंने तीन ज्योतिष-ग्रंथों की रचना की- आर्यभटीय, आर्यभट-सिद्धान्त और सूर्य-सिद्धान्त-प्रकाश। वर्तमान में केवल आर्यभटीय ही उनका पूर्ण रूपेण उपलब्ध ग्रंथ है जिसने गणित एवं ज्योतिष के इतिहास में उन्हें महान् एवं अमर बना दिया। आर्यभट-सिद्धान्त का कुछ ही अंश अभी तक प्राप्त हो सका है तथा सूर्य-सिद्धान्त-प्रकाश की चर्चा तो है, पर उसकी पांडुलिपि अद्यावधि अप्राप्य है। इन रचनाओं के अतिरिक्त उनके द्वारा रचित कुछ मुक्तकों के सम्बन्ध में भी जानकारी प्राप्त हुई है।

2.2 आर्यभटीय : आर्यभटीय वस्तुतः भारत का सर्वाधिक प्राचीन पौरूषेय ज्योतिष-ग्रंथ है तथा गणितीय सूत्रों को समाहित करने वाली सबसे प्राचीन उपलब्ध रचना है। यह गणित एवं ज्योतिष का अप्रतिम ग्रंथ है। इसकी महत्ता सर्वमान्य है। यूक्लिड के एलिमेंट्स तथा डायोफेंटस के एरिथमेटिक की तरह भारत में इसे भी प्रतिष्ठा मिली। साथ ही जिस तरह यूनान में इन दो रचनाओं के सामने पूर्व रचित पुस्तकें टिक नहीं सकीं, उसी तरह आर्यभटीय से पूर्व की रचनाएँ इससे ग्रसित हो गयीं। फलस्वरूप आर्यभट से पूर्व अनेक ज्योतिषविदों की चर्चा होने पर भी उनके ग्रंथों की पांडुलिपियाँ अभी उपलब्ध नहीं हैं। यहाँ तक कि पाँच प्रमुख सिद्धान्त ग्रंथ-पौलिश, रोमक, वासिष्ठ, सौर एवं पैतामह भी मौलिक रूप में सुरक्षित नहीं रह सके। वराहमिहिर द्वारा संकलित पंचसिद्धान्तिका में ही उनके संक्षिप्त एवं परिवर्तित रूप दृष्टिगोचर होते हैं। जी०आर० केय, अल-बिरूनी आदि कुछ विद्वानों के अनुसार आर्यभटीय की पांडुलिपि बहुत दिनों तक लुप्त रही, पर ऐसा सोचना उनका भ्रम है। इस ग्रंथ के विलुप्त होने का कोई प्रश्न ही नहीं है। आर्यभट के अनुवर्त्ती प्रायः सभी भारतीय ज्योतिषविदों को इसकी जानकारी थी तथा इसकी पांडुलिपि भी हस्तगत थी। उनके द्वारा आर्यभटीय के श्लोकों का उद्धृत करना, आर्यभट द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की चर्चा

करना, उस ग्रंथ पर टीका लिखना आदि इसके प्रमाण हैं। सम्भावना है, कि बाह्य देश के विद्वानों से इस दुर्लभ ग्रंथ को गुप्त रखने के उद्देश्य से ही अल-बिरूनी को यह ग्रंथ उपलब्ध नहीं हो सका हो। अत: जी०आर०केय का यह अनुमान कि आर्यभटीय की पांडुलिपि शताब्दियों तक खोयी हुई थी, भ्रामक एवं असत्य है। वास्तविकता यही है कि यह ग्रंथ मौलिक रूप में हर युग में विद्वानों को उपलब्ध रहा है तथा भारतीय ज्ञान-विज्ञान का एक प्रामाणिक स्रोत रहा है।

यह ग्रंथ प्राचीन एवं अर्वाचीन विद्वानों के द्वारा विभिन्न नामों से पुकारा जाता रहा है। ब्रह्मगुप्त ने इसे दशगीतिका और आर्याष्टशत तथा भास्कार प्रथम ने तंत्र, आश्मकियम, आश्मक-तंत्र, भट-तंत्र आदि कहा है। अल-बिरूनी एवं परमेश्वर ने इसे तंत्र तथा डा० भाऊदाजी ने वृद्ध या लघु आर्य सिद्धान्त कहा है, पर स्वयं आर्यभट ने इसका नाम आर्यभटीय रखा है और इसलिए इस ग्रंथ को इसी नाम से पुकारा जाना उचित है। यह एक तंत्र ग्रंथ है। तंत्र ग्रंथ में गणना कलियुग के प्रारम्भ से की जाती है जहाँ सिद्धान्त एवं करण ग्रंथों में गणना क्रमश: कल्प एवं किसी निश्चित क्षण से की जाती है। हम लोगों ने पूर्व में (आर्य०3.10) देखा है कि आर्यभट ने ग्रहगणित के इस महत्तम ग्रंथ की रचना सिर्फ 23 वर्ष की आयु में की है जिससे उनकी कुशाग्र बुद्धि का परिचय मिलता है। उन्होंने स्वयं यह भी स्वीकार किया है कि इस ग्रंथ का आधार ब्रह्म-सिद्धान्त है (आर्य०4.50)। साथ ही उन्होंने तत्कालीन अन्य ग्रंथों का भी अवलोकन किया, पर अपनी बुद्धि से उन सिद्धान्तों का परीक्षण एवं संशोधन कर सत्य का अन्वेषण किया तथा आर्यभटीय जैसे ग्रंथ-रत्न की रचना की।

2.3 आर्यभटीय की विषय-वस्तु : ब्रह्मगुप्त, सूर्यदेव यज्वा आदि विद्वानों ने आर्यभटीय को दो भागों में विभक्त किया है-दशगीतिका एवं आर्याष्टशत (आर्य+अष्टशत) क्योंकि दोनों भागों के प्रार्थना-श्लोक एक-दूसरे से भिन्न हैं, पर सम्पूर्ण पुस्तक एक पूर्ण इकाई है। दोनों भागों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। ये एक-दूसरे से अलग नहीं किए जा सकते, एक-दूसरे के पूरक हैं। इसमें चार अध्याय हैं जिन्हें आर्यभट ने स्वयं 'पाद' कहा है। पाद का अर्थ ही होता है चतुर्थांश। सारी पुस्तक के चार भाग होने के कारण प्रत्येक भाग पाद कहा गया है। ये चार अध्याय (पाद) हैं-दशगीतिकापाद, गणितपाद, कालक्रियापाद एवं गोलपाद। चारों अध्याय में कुल 121 श्लोक हैं, पर इतने ही श्लोकों में गणित एवं ज्योतिष के प्राय: सभी मुख्य सिद्धान्तों की व्याख्या कर दी गयी है। पुस्तक-प्रणयन पद्य में, कम शब्दों में होने के कारण साधारण सिद्धान्तों, प्रमाणों एवं उदाहरणों का अभाव सा है। अधिक संक्षिप्त होने के कारण शब्दों के अर्थ समझने में कठिनाई अवश्य होती है, पर मौलिक सिद्धान्तों के विश्लेषण के कारण इसकी महत्ता बढ़ जाती है। ग्रंथ की गुरुता एवं ग्रहगणित-गोल-ज्ञान की दुरुहता के कारण इसका समुचित सदुपयोग नहीं हो पाता है, पर परवर्त्ती विद्वानों के लिए प्रेरणा-स्रोत के रूप में यह सदैव सर्वमान्य रहा है।

प्रथम अध्याय-दशगीतिकापद में 13 श्लोक हैं। इसकी प्रथम आर्या में वन्दना है तथा पुस्तक का विषय-निर्देशन है। दूसरी आर्या में स्वरों एवं व्यंजनों की सहायता से बड़ी-बड़ी संख्याओं को लिखने की विधि का वर्णन है। आगे की दश आर्याओं (3-12) में युगों एवं ब्रह्मा के एक दिन का परिमाण वर्तमान दिन का बीता समय, आकाशीय पिंडों के भगणों की संख्या, उनके मन्द वृत्त एवं शीघ्रवृत्त की परिधियाँ, उनकी कक्षाओं के पारस्परिक झुकाव तथा $3^0 45$ कला के अन्तरों पर अर्ध ज्याओं के मान नवीन संख्या-गणना पद्धति में दिए गए हैं। अन्तिम (13वीं) आर्या में इसके अध्ययन से प्राप्त होने वाले फल का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

दूसरे अध्याय-गणितपाद में 33 श्लोक हैं जो विभिन्न गणितीय सिद्धान्तों से सम्बन्धित हैं। प्राचीन भारत में गणित को ज्योतिषशास्त्र का सहायक अंग समझा जाता था और इसलिए गणितीय सिद्धान्तों का विश्लेषण अलग से नहीं किया जाता। यही कारण है कि वेदांग ज्योतिष, सूर्य-सिद्धान्त आदि प्राचीन ज्योतिष-ग्रंथों में गणित सम्बन्धी स्वतंत्र अध्याय नहीं है। वैदिक युग में धार्मिक कार्यों एवं ज्योतिष-सिद्धान्तों के विवेचन के लिए गणित की आवश्यकता समझी जाती थी, पर बाद के युग में गणित का व्यावहारिक पक्ष भी उभरकर सामने आया; दैनिक जीवन के कार्यों में इसके सिद्धान्तों की आवश्यकता पड़ने लगी यथा मजदूरी देने, लाभ-हानि का विचार करने, सोना-चाँदी आदि धातुओं के तौलने, क्षेत्रफल एवं घनफल जानने आदि कार्यों के लिए। आर्यभट से पूर्व कम से कम दो ग्रंथों-सूर्य प्रज्ञप्ति (500 ई०पू०) एवं वक्षाली गणित (2री शताब्दी) में गणित के सिद्धान्तों की विवेचना की गयी है, पर दुर्भाग्य की बात है कि ये दोनों ग्रंथ मौलिक रूप में प्राप्त नहीं हो सके हैं। वक्षाली गणित तो समय के अन्तराल में खो जाने के कारण आर्यभट अथवा उनके परवर्त्ती गणितज्ञों को उपलब्ध भी नहीं हो पाया था। इस तरह आर्यभटीय ही सर्वप्रथम उपलब्ध ज्योतिष-ग्रंथ है जिसमें गणित सम्बन्धी अध्याय स्वतंत्र रूप से दिया गया है। आर्यभट द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि ये सिद्धान्त निरंतर चिंतन-मनन तथा पूरी गणना के बाद ही प्रमाणित कर सूत्रबद्ध किए गए होंगें। मौलिक परिकर्मों एवं साधारण प्रश्नों को उन्होंने अपने ग्रंथ में समाहित नहीं किया है, कठिन प्रश्नों के हल करने की विधियों तथा तत्सम्बन्धी सूत्रों को ही संकलित किया है। लिखने के साधन के अभाव में, पद्य में तथा अपने सिद्धान्तों को गुप्त रखने के उद्देश्य से भी उन्होंने इन सिद्धान्तों का संक्षेप में, सूत्र रूप में अपने शिष्यों की सुविधा के लिए निर्धारण किया है। फलस्वरूप इन नियमों को समझने में कठिनाई होती है तथा विभिन्न युगों में आर्यभटीय पर लिखी गयी टीकाओं के बिना इन्हें समझना असम्भव सा है। इसलिए उनके टीकाकार भास्कर प्रथम ने (आर्यभटीय भाष्य, आ०1.1 की टीका में) अपना मंतव्य व्यक्त किया है कि गणितपाद के आचार्य ने गणित के विषय को इशारा से ही समझाया है जहां कालक्रियापाद एवं गोलपाद में ज्योतिष के सिद्धान्तों को विस्तार से विवेचित किया है

इसलिए उनके गणित से संक्षिप्त गणित ही समझना चाहिए-'दिड०मात्रमे मिहितम् .... किंचिद् गणितमिति' आदि। महत्वपूर्ण बात यह है कि ज्योतिषशास्त्र की पुस्तक में गणितीय सिद्धान्तों के लिए स्वतंत्र अध्याय को समाहित कर उन्होंने एक नयी परम्परा का श्रीगणेश किया तथा परवर्त्ती विद्वानों का इस दिशा में पथ-प्रदर्शन का कार्य किया है। गणितपाद में निम्नलिखित विषयों का विवेचन है:-

प्रथम श्लोक में ब्रह्म एवं नक्षत्रों की प्रार्थना के साथ-साथ जन्म-स्थान की चर्चा की गयी है। दूसरे श्लोक में संख्या लिखने की दशमलव पद्धति की इकाइयों के नाम हैं। इसके आगे के श्लोकों में वर्ग एवं घन (3), वर्गमूल एवं घनमूल (4-5), त्रिभुज का क्षेत्रफल एवं त्रिभुजाकार शंकु का घनफल (6), वृत्त का क्षेत्रफल एवं गोल का घनफल (7), विषम चतुर्भुज का क्षेत्रफल (8), सब प्रकार के क्षेत्रों का क्षेत्रफल (9), वृत्त की परिधि (10), ज्याओं एवं ज्या अन्तरों की सारणी की व्युत्पत्ति (11-12) दी गयी है। फिर शंकु एवं छाया सम्बन्धी प्रश्नों के हल करने में विभिन्न ज्यामितीय सिद्धान्तों के प्रयोग (13-16), समकोण त्रिभुज के भुजों एवं कर्ण के वर्गों का सम्बन्ध (17), वृत्त की जीवा एवं शरों के सम्बन्ध (18) दिए गए हैं। तदनन्तर श्रेढ़ी गणित से सम्बन्धित नियम (19-22), बीजगणितीय तादात्म्य (23-24), ब्याज की दर निकालने के लिए द्विघातीय समीकरण के हल की विधि (25), त्रैराशिक का नियम (26), भिन्नों के हरों को सामान्य हर में बदलने की रीति (27), भिन्नों के गुणा और भाग, व्युत्क्रम विधि (28), एक या अनेक अज्ञात राशियों से सम्बन्धित प्रथम घातीय समकरणों को हल करने की विधि (29-30), दो ग्रहों का युतिकाल जानने की विधि (31) एवं प्रथम घातीय अनिर्णित समीकरणों को हल करने की विधि (32-33) का विश्लेषण किया गया है।

तीसरे अध्याय-काल क्रियापाद में काल-गणना सम्बन्धी 25 श्लोक हैं। काल एवं कोण की इकाइयाँ (1-2), एक युग में ग्रहों की युति एवं व्यतीपात (3), मन्दोच्च नीच एवं शीघ्रोच्च नीच का परिभ्रमण एवं वार्हस्पत्य वर्ष (4), सौर-चान्द्र मास, सावन-नाक्षत्र दिन, अधिमास, क्षयतिथि (5-6), रवि-वर्ष, पितरों का वर्ष, दिव्य वर्ष, युग एवं ब्रह्मा का दिन (7-8), युग-वर्गीकरण (9), आर्यभटीय की रचना का वर्ष तथा आर्यभट का काल (10), युग, वर्ष, मास, दिवस की गणना का प्रारम्भ (11), ग्रह-गति तथा परिभ्रमण में लगा समय (12-14), ग्रहों के क्रम (15), होराओं के स्वामी (16), कक्ष्या मंडल-प्रतिमंडल में ग्रहपति (17), ग्रहों के प्रतिमंडल एवं कक्ष्या मंडल का तुल्य होना (18-19), नीचोच्च वृत्त पर ग्रहों का परिभ्रमण (20), नीचोच्च वृत्त का परिभ्रमण (21), मंद-फल एवं शीघ्र-फल की गणना (22-24), ग्रह तथा पृथ्वी के केन्द्र के बीच की दूरी की गणना (25), ग्रहों की मध्यम एवं स्पष्ट गति सम्बन्धी विभिन्न नियमों का वर्णन किया गया है।

अंतिम एवं चौथे अध्याय-गोलपाद में 50 श्लोक हैं। इसमें आकशीय गोल पर सूर्य,

चन्द्रमा एवं अन्य ग्रहों की गति की गणना से सम्बन्धित निम्नलिखित विषय समाहित है:-

रवि मार्ग या क्रांति वृत्त का अर्द्धांश विषुवत रेखा के उत्तर में तथा उसका शेष भाग विषुवत रेखा के दक्षिण में (1), रवि मार्ग पर ग्रहों के पात एवं पृथ्वी की छाया का भ्रमण (2-3), सूर्य से कितने अन्तर पर चन्द्रमा, मंगल, बुध का दृश्य होना (4), पृथ्वी, ग्रहों एवं नक्षत्रों का आधा गोल सूर्य के सम्मुख होने से प्रकाशित और आधा अप्रकाशित (5), पृथ्वी के चारों ओर जल, वायु, अग्नि और मिट्टी (6-7), ब्रह्मा के एक दिन में पृथ्वी की गोलाई का एक योजन बढ़ जाना और रात्रि में एक योजन घट जाना। (8), लंका में (भूमध्य रेखा पर) अचल तारागण का पश्चिम की ओर जाते प्रतीत होना (9), सूर्य के उदय-अस्त होने का कारण (10), सुमेरु पर्वत (उत्तरी ध्रुव) का आकार (11), सुमेरु एवं बड़वामुख (दक्षिणी ध्रुव) (12), नब्बे-नब्बे अंश की दूरी पर चार नगरों-लंका सिद्धपुर, यमकोटि एवं रोमक का वर्णन (13), लंका एवं उज्जैन का अन्तर (14), खगोल के आधे भाग से कम दिखाई पड़ने का कारण (15), उत्तरी एवं दक्षिणी ध्रुव पर खगोल का घूमते दिखाई पड़ने (16), देवताओं, असुरों, पितरों एवं मनुष्यों के दिन-रात का परिमाण (17), खगोल गणित की कुछ परिभाषाएँ (18-21), भू-भगोल यंत्र का वर्णन (22-23), त्रिप्रश्नाधिकार सम्बन्धी लग्न, काल आदि निकालने हेतु विभिन्न सूत्रों का वर्णन (24-33), लम्बन (34), दृक्कर्म (35), अयन दृक्कर्म (36), सूर्य-ग्रहण एवं चन्द्र-ग्रहण के वैज्ञानिक कारण तथा तत्सम्बन्धी गणना की रीति (37-47), सूर्य, चन्द्रमा एवं अन्य ग्रहों के मूलांक निकालने की विधि (48)। अन्तिम दो श्लोकों (49-50) में आर्यभट ने अपने ज्योतिष-ज्ञान को यथार्थ ज्ञान का उत्तम रत्न कहा है तथा स्वीकार किया है कि उनकी कृति आर्यभटीय में स्वयं भू-ब्रह्मा-द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की ही विवेचना की गयी है।

पुस्तक की विषय-सूची से इस बात की पुष्टि होती है कि ये चारों खंड एक ही ग्रंथ के अभिन्न अंग हैं। प्रथम भाग की प्रथम आर्या में ही लेखक ने घोषणा की है कि आगे वे गणित, कालक्रिया एवं गोल का वर्णन करेंगे। विभिन्न अध्यायों की आर्याओं के अवलोकन से भी ज्ञात होता है कि एक ही लेखक द्वारा एक ही ग्रंथ के लिए ये आर्याएँ रची गयी हैं। प्रथम एवं द्वितीय अध्यायों की प्रथम आर्याएँ तथा प्रथम एवं अन्तिम अध्यायों की अन्तिम आर्याओं से एक ही व्यक्ति के विश्वास अथवा धर्म की जानकारी होती है। अत: जी०आर० केय की यह धारणा कि गणितपाद आर्यभटीय से भिन्न ग्रंथ है-आधारहीन एवं भ्रमात्मक है। साथ ही विषय-सूची से यह बात भी सुनिश्चित होती हैं कि यह ज्योतिष एवं गणित का विस्तार ग्रंथ नहीं है, पर प्राय: सभी मुख्य विषयों का इसमें समावेश है।

2.4 भाषा एवं शैली : प्राचीन भारत के अन्य लेखकों की तरह आर्यभट ने भी सूत्र-शैली में ही पुस्तक-प्रणयन किया। इस शैली में लाभ-हानि दोनों समिश्रित हैं। यह लाभदायक है क्योंकि बहुत सी बातों को संक्षेप में, कम शब्दों में व्यक्त किया जा सकता

है, पर हानिकारक है क्योंकि इससे गलत अर्थ निकलने-भ्रम होने का भय भी रहता है। इसी कारण आर्यभटीय की भाषा दुरूह हो गयी है तथा बहुधा शब्दों का अर्थ एवं सूत्रों का विश्लेषण अशुद्ध हो जाता है। अत: ऐसे ग्रंथों में प्रतिपादित सिद्धान्तों को समझने के लिए विशेष सतर्क रहने की आवश्यकता है। वासिष्ठ, पौलिश, रोमक जैसे कुछ प्राचीन ज्योतिष-ग्रंथों की रचना अनुष्टुभ छंद में की गयी है, पर तत्कालीन संस्कृत-साहित्य का लोकप्रिय मात्रिक छंद आर्या छंद ही था। कालिदास जैसे महाकवि ने इसी छंद में ग्रंथों की रचना की। आर्यावर्त्त के निवासी आर्यभट ने भी अपने ग्रंथ आर्यभटीय को आर्या छंद में लिखकर एक नयी परम्परा स्थापित की। फलस्वरूप वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, श्रीपति, भास्कर द्वितीय प्रभृत्ति ज्योतिषविदों ने भी इसी छंद में ग्रंथों की रचना की। आर्या छंद के नौ प्रभेद हैं जिनमें गीति एवं आर्या-इन दोनों प्रभेदों का आर्यभट ने प्रयोग किया है। आर्या के प्रथम एवं तृतीय चरणों में 12 मात्राएँ तथा द्वितीय एवं चतुर्थ चरणों में क्रमश: 18 एवं 15 मात्राएँ होती हैं, जहाँ गीति के प्रथम एवं तृतीय चरणों में 12 मात्राएँ तथा द्वितीय एवं चतुर्थ चरणों में 18 मात्राएँ होती हैं।[1]

संस्कृत व्याकरण के नियमों के अनुकूल ही प्राय: पूरे ग्रंथ की रचना की गयी है, पर सूत्रबद्ध आर्या छंद पर विशेष रूप से ध्यान देने के कारण कहीं-कहीं व्याकरण के साधारण नियमों का उल्लंघन भी दृष्टिगोचर होता है। भाषा तो संक्षिप्त है ही, कम शब्दों में बहुत सी बातें कह दी गयी हैं। यमक-उत्प्रेक्षा अलंकारों के चयन में भी उन्होंने चमत्कार दिखलाया है। इसका ज्वलंत उदाहरण निम्नलिखित श्लोक में मिलता है:-

'मूलफलं सफलं कालमूलगुमर्धमूलकृतियुतम्।
मूलं मूलाधेनं कालहृतम् स्यात् स्वमूलफलम्' ॥ (आर्य० 2.25)॥

यहाँ यमक अलंकार का प्रयोग है। मूल शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में छ: बार किया गया है तथा फल का व्यवहार तीन बार। यहाँ गणितीय सिद्धान्तों को साहित्यिक भाषा में प्रकट करने की अपूर्व योग्यता प्रदर्शित होती है। इस तरह आर्यभट ने मंजी हुई, संक्षिप्त, अलंकारिक एवं साहित्यिक भाषा का प्रयोग कर सदा के लिए इस विषय पर अपना प्रभुत्व अंकित किया है।

2.5 **टीकाएँ :** आर्यभटीय अपने विशिष्ट गुणों के कारण रचना के समय से ही विद्वानों के बीच लोकप्रिय रही। प्राय: सभी अनुवर्त्ती विद्वानों की रचनाओं में किसी-न-किसी रूप में इसकी चर्चा है तथा इसके अवतरण उद्धृत किए गए हैं। इस पुस्तक की महत्ता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि संस्कृत के अतिरिक्त हिन्दी, तेलुगु, मलयालम, मराठी आदि अनेक भारतीय भाषाओं में इस पर टीकाएँ लिखी गयी हैं। साथ ही अरबी, अंग्रेजी, लैटिन, फ्रैंच, जर्मन, रूसी आदि अन्य देशीय भाषाओं में भी विद्वानों ने इसका अनुवाद किया है। विभिन्न युगों में लिखी गयी टीकाओं में कुछ की पांडुलिपियाँ समाप्त हो गयीं, कुछ तो उपलब्ध हैं, पर दुरावस्था में हैं और कुछ अच्छी अवस्था में हैं जिनका

प्रकाशन भी हो चुका है। ऐसी टीकाओं की सूची निम्नलिखित है:-

(क) आर्यभट के शिष्य प्रभाकार द्वारा लिखी गयी टीका सर्वप्रथम है जिसकी सूचना भास्कर प्रथम तथा पृथुदक स्वामी द्वारा मिलती है, पर वह अभी अनुपलब्ध है।

(ख) दूसरी टीका आर्यभटीय-भाष्य है जिसकी रचना भास्कर प्रथम ने 629 ई० में की। यह सम्भवत: उपलब्ध टीकाओं में सबसे प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण टीका है। इसका प्रकाशन 1976 ई० में इंडियन नेशनल साइंस एकेडेमी, दिल्ली द्वारा किया गया है जिसका सम्पादन डा० कृपा शंकर शुक्ल ने किया है।

(ग) भूत विष्णु (11वीं शताब्दी) द्वारा रचित भट प्रदीप नामक टीका आर्यभटीय के सिर्फ एक ही अध्याय-दशगीतिकापाद पर लिखी गयी है जिसकी प्रतियाँ अनुप संस्कृत पुस्तकालय बिकानेर तथा बर्लिन के पुस्तकालय में उपलब्ध हैं।

(घ) सोमेश्वर रचित टीका की एक प्रति बम्बई विश्वविद्यालय पुस्तकालय में सुरक्षित है। सोमेश्वर का समय, विद्वानों के अनुसार, भट्टोत्पल (968 ई०) बाद तथा अमराज (1200 ई०) के पूर्व है।

(ड.) सूर्यदेव यज्वा ने 1191 ई० में भट-प्रकाशिका नाम की टीका लिखी जिसका प्रकाशन 1976 ई० में इंडियन नेशनल साइंस ऐकेडेमी, दिल्ली द्वारा किया गया। के०वी० शर्मा ने इसका सम्पादन किया है।

(च) परमेश्वर (1430 ई०) द्वारा लिखित टीका का नाम है भट-दीपिका जिसका प्रकाशन एवं सम्पादन डा०एच० कर्ण द्वारा 1874 ई० में लियडन (ब्रिटेन) में किया गया।

(छ) नीलकंठ सोमयाजु (1500 ई०) द्वारा रचित आर्यभटीय-भाष्य नामक टीका का प्रकाशन तीन भागों में संस्कृत पांडुलिपि प्रकाशन विभाग, त्रिवेन्द्रम द्वारा 1930, 1931 एवं 1957 ई० में किया गया।

(ज) यल्लय (1480) की टीका सूर्यदेव यज्वा की टीका का ही विस्तार रूप है जिसमें यल्लय ने जगह-जगह पर अपनी टिप्पणी लिखी है तथा कुछ उदाहरण भी जोड़े हैं। इसकी एक प्रति लखनऊ विश्वविद्यालय पुस्तकालय में सुरक्षित है।

(झ) रघुनाथ राजा (1597 ई०) द्वारा लिखी टीका की एक प्रति भी लखनऊ विश्वविद्यालय पुस्तकालय में उपलब्ध है।

(ञ) माधव द्वारा भी एक टीका लिखी गयी, पर वह अभी उपलब्ध नहीं है। इसकी सूचना माधव द्वारा ही रचित वृहज्जातक (वराहमिहिर रचित) की टीका से मिलती है।

(ट) कृष्ण दास (1756-1812 ई०) की टीका सिर्फ दशगीतिकापाद पर है। इसकी रचना मलयालम भाषा में की गयी है जिसकी एक प्रति के०वी० शर्मा (मद्रास) के संरक्षण में है।

(ठ) घटीटोप (1810-60 ई०) ने दो टीकाएँ लिखी हैं एक संस्कृत में और दूसरी

मलयालम में। दोनों की पांडुलिपियाँ केरल विश्वविद्यालय के ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट एवं पांडुलिपि पुस्तकालय, त्रिवेन्द्रम में सुरक्षित हैं।

(ड) कोण्डराम (1807-83ई०) की लिखी टीका 'आर्यभट-तंत्र गणित' सिर्फ कालक्रियापाद पर है। संस्कृत के साथ-साथ तेलुगु में भी श्लोकों का अर्थ दिया गया है। इसकी पांडुलिपि की एक प्रति सरकारी ओरिएन्टल मेनस्क्रिप्ट पुस्तकालय, मद्रास में सुरक्षित है। इन्हीं के द्वारा 'सुधा-तरंग' नामक टीका तेलुगु में लिखी गयी है जिसमें दशगीतिका, गणित एवं कालक्रिया-तीन अध्यायों को ही समाहित किया गया है। सरकारी ओरिएन्टल सीरिज, मद्रास के द्वारा 1953 ई० में इसे प्रकाशित किया गया जिसका सम्पादन बी०लक्ष्मीनारायण शास्त्री ने किया है।

(ढ़) विरुपाक्ष की टीका तेलुगु में है जिसकी पांडुलिपि ओरिएन्टल पांडुलिपि पुस्तकालय, मैसूर में है।

(ण) कृष्ण की टीका आर्यभटीय-व्याख्या मलयालम में है जिसकी एक प्रति इंडिया आफीस, लंदन में उपलब्ध है। यह निश्चित नहीं हो पाया है कि इसके लेखक कृष्ण उपरोक्त टीकाकार कृष्णदास से अभिन्न हैं।

(त) एक अज्ञात लेखक द्वारा मराठी में लिखी गयी टीका की एक प्रति बम्बई विश्वविद्यालय पुस्तकालय में उपलब्ध है।

(थ) परमेश्वर द्वारा लिखी टीका 'भट-दीपिका' के आधार पर उदय नारायण सिंह ने हिन्दी में एक टीका लिखी जिसका प्रकाशन 1906 ई० में मुजफ्फरपुर से किया गया।

(द) पी०सी० सेनगुप्ता ने आर्यभटीय का अनुवाद अंग्रेजी में किया जिसका प्रकाशन 1927 ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय के जरनल, डिपार्टमेंट आफ लेटर्स के सोलहवाँ खंड में किया गया।

(ध) वलदेव मिश्र द्वारा संस्कृत के साथ-साथ हिन्दी में आर्यभटीय पर एक टीका लिखी गयी जिसका प्रकाशन बिहार रिसर्च सोसाइटी, पटना द्वारा 1966 ई० में किया गया।

(न) राम निवास राय ने हिन्दी में आर्यभटीय का अनुवाद किया जिसका प्रकाशन 1976 ई० में इंडियन नेशनल साइंस एकेडेमी, दिल्ली द्वारा किया गया।[2]

इन टीकाओं के अतिरिक्त बाह्य देशों के विद्वानों ने भी अपनी-अपनी भाषाओं में आर्यभटीय का अनुवाद किया है। पाश्चात्य देशों में सबसे पहला अनुवाद अरबी भाषा में जीज अल् अर्जव़हर के नाम से 800 ई० के लगभग किया गया। फिर 13वीं शताब्दी में जी०डी० लुनिस द्वारा लैटिन में, 1875 ई० में के० एल्फिरिंग द्वारा सिर्फ गणितपाद का जर्मन में, 1879 ई० में रोडेट द्वारा गणितपाद का ही फ्रेंच में, जी० थिवो द्वारा 1899 ई० में तथा जी०आर० केय द्वारा 1908 ई० में गणितपाद का अनुवाद अंग्रेजी में जिसका प्रकाशन जरनल आफ एसिएटिक सोसाइटी आफ बंगाल के चौथे खंड में किया गया,

डब्लू०ई० क्लार्क द्वारा अंग्रेजी में 1903 ई० में जिसका प्रकाशन हारवार्ड विश्वविद्यालय द्वारा किया गया, बोलोडास्र्की द्वारा रूसी भाषा में आदि अनेक विद्वानों द्वारा विदेशी भाषाओं में आर्यभटीय का अनुवाद किया गया। इतना ही नहीं, गत दो सौ वर्षों में आर्यभट के गणितीय एवं ज्योतिष सम्बन्धी अवदान से सम्बन्धित अनेकानेक निबंध भारत के बाहर भी लिखे गए जिनका प्रकाशन अन्तर्राष्ट्रीय शोध-पत्रिकाओं में होता रहा है। इस तरह छठी शताब्दी से आज तक आर्यभटीय पर लिखी गयी टीकाओं, तत्सम्बन्धी निबंधों एवं पुस्तकों से यह अनुमान्य है कि हर युग में आर्यभट की कृति आर्यभटीय लोकप्रिय रही है तथा विद्वानों के बीच महत्त्वपूर्ण स्थान पाती रही है।

2.6 **आर्यभट-सिद्धान्त :** यह अब निर्विवाद रूप से प्रमाणित हो चुका है कि आर्यभट ने आर्यभट-सिद्धांत नामक दूसरे ज्योतिष-ग्रंथ की भी रचना की थी। प्रसिद्ध ज्योतिषविद् वराहमिहिर ने (पं०सि०अ० 15.20 में) आर्यभट रचित दो रचनाओं में अन्तर बतलाते हुए कहा है कि एक जगह आर्यभट ने लंका में युग का आरंभ मध्यरात्रि से माना है तो दूसरी जगह लंका में ही सूर्योदय से। पहली गणना को अर्द्धरात्रिक तथा दूसरी को औदयिक गणना कहते हैं। फिर ब्रह्मगुप्त के कथनानुसार (ब्रा०स्फु०सि०अ० 11.5 एवं 13) भी आर्यभट ने अर्द्धरात्रिक एवं औदयिक विधियों में दो भिन्न ग्रंथों की रचना की है। आर्यभटीय (आ०1.4) औदयिक विधि पर आधारित है। स्वभावत: अर्द्धरात्रिक प्रणाली से सम्बन्धित आर्यभट का दूसरा ग्रंथ अवश्य रहा होगा। आर्यभट के सिद्धान्तों के प्राचीनतम प्रबल समर्थक भास्कर प्रथम ने भी उनके दोनों ग्रंथों के अन्तर को अपने ग्रंथ 'महाभास्करीय' (7.21) में दर्शाया है और कहा है कि एक ग्रंथ में औदयिक विधि से गणना की गयी है और दूसरे ग्रंथ में अर्द्धरात्रिक विधि से। दूसरे ग्रंथ का उन्होंने नामकरण नहीं किया है, पर उसे 'तंत्रान्तर' (महाभा० 7.33) कहा है। इस दूसरे ग्रंथ की चर्चा गोविन्द स्वामी (9वीं शताब्दी) की रचना में, चतुर्वेदाचार्य (878 ई०) की ब्रा०स्फु० सिद्धान्त (11.13) की टीका में, अल-बिरुनी (11वीं शताब्दी) की प्रसिद्ध पुस्तक भारत (प्रथम भाग, पृ०156) में तथा नीलकंठ (1500 ई०) की आर्यभटीय-भाष्य (आ०4.48 की टीका) में भी पायी जाती है। शंकर बालकृष्ण दीक्षित, पी०सी०सेन गुप्ता, गोरख प्रसाद, के०एस० शुक्ला जैसे कुछ प्रसिद्ध आधुनिक विद्वानों ने भी इस तथ्य को स्वीकारा है कि आर्यभट की दूसरी कृति भी थी। मल्लिकार्जुन सूरि (1178 ई०), चण्डेश्वर (12वीं शताब्दी), रामकृष्ण आराध्य (1472 ई०), भूधर (1572 ई०), तम्म यज्वा (1599 ई०) आदि सूर्य-सिद्धान्त के टीकाकारों ने इस तथ्य को स्वीकार करते हुए आर्यभट के दूसरे ग्रंथ को 'आर्यभट-सिद्धान्त' कहा है। उन्होंने इस ग्रंथ की कुछ विशिष्ट विधियों एवं इसमें वर्णित कुछ यंत्रों का विवरण भी प्रस्तुत किया है। तम्म यज्वा ने तो स्वयं घोषित किया है कि उन्होंने आर्यभट-सिद्धान्त के आधार पर ही 'सार्वभौम' नामक ज्योतिष-ग्रंथ की रचना की है। इतना ही नहीं, रामकृष्ण आराध्य ने तो उस आर्यभट-सिद्धान्त के यंत्राध्याय से 34 श्लोक भी उद्धृत किए हैं।[3] उनकी

उक्ति है- 'आर्यभट सिद्धान्तोक्त यंत्रानुसारेण तत्कृत्यंत्राध्याय श्लोका विलिख्यन्ते।' इन 34 श्लोकों में नौ तरह के यंत्रों की विशद व्याख्या की गयी है जिनके नाम हैं- (1) छाया-यंत्र (2) धनुयंत्र (3) यष्टि-यंत्र (4) चक्र-यंत्र (5) छत्र-यंत्र (6) तोय-यंत्र (7) घटिका-यंत्र (8) कपाल-यंत्र (9) शंकु-यंत्र। यंत्रों के इस विस्तृत विवरण से यह अनुमान किया जाता है कि आर्यभट-सिद्धान्त अवश्य ही एक विशाल ग्रंथ रहा होगा। यह विवरण सूर्य-सिद्धान्त से मिलता-जुलता है। इसलिए यह भी अनुमान्य है कि जिस तरह आर्यभटीय स्वायम्भू सिद्धान्त पर आधारित है, उसी तरह आर्यभट-सिद्धान्त सूर्य-सिद्धान्त से प्रभावित है।

आर्यभट-सिद्धान्त के उपलब्ध अंश के श्लोक अनुष्टुभ छंद में लिखे गए हैं, जिस छंद का व्यवहार आर्यभट के पूर्ववर्त्ती विद्वानों के ग्रंथों में पाया जाता है। इस तरह आर्यभट ने इस ग्रंथ में अनुष्टुभ छंद का प्रयोग कर अपने पूर्ववर्त्ती विद्वानों का अनुकरण किया है, तो दूसरी ओर आर्यभटीय की रचना आर्या छंद में कर अनुवर्त्ती लेखकों के लिए पथ-प्रदर्शन का कार्य किया है।

यहाँ स्वाभाविक रूप से एक प्रश्न उठ खड़ा होता है कि इन दो ग्रंथों में आर्यभट ने किस ग्रंथ की रचना पहले की? हमें ज्ञात है कि आर्यभट ने स्वयं घोषणा की है कि उन्होंने 23 वर्ष की उम्र में (499 ई० में) ही आर्यभटीय की रचना की। यह भी हम लोगों ने देखा है कि इस ग्रंथ में उन्होंने स्मृति-पुराण से स्वतंत्र गणित-ज्योतिष के अनेक नवीन सिद्धान्तों का विश्लेषण किया है जिसके कारण कुछ परवर्त्ती विद्वानों ने उनकी कटु आलोचना भी की, पर आर्यभट-सिद्धान्त में सम्भवत: प्राचीन परम्परागत सिद्धान्तों को समाहित करने के फलस्वरूप विद्वानों ने इसकी आलोचना नहीं की है। इसलिए ऐसी सम्भावना है कि अपनी कम उम्र में ही, जब उन्होंने प्राचीन सिद्धान्तों का अध्ययन समाप्त किया, उन सिद्धान्तों से प्रभावित होकर इसकी रचना की हो। जब प्राचीन सिद्धान्तों की विशेषताओं एवं त्रुटियों की विवेचना करने में वे समर्थ हो गए तथा आकाशीय पिंडों का स्वयं निरीक्षण कर तदनुकूल सिद्धान्तों के निर्माण करने की क्षमता उन्हें प्राप्त हो गयी, तो उन्होंने आर्यभटीय जैसे मौलिक ग्रंथ की रचना की। अत: यह अनुमान्य है कि आर्यभट-सिद्धान्त की रचना आर्यभटीय से पूर्व ही हुई होगी। इस तथ्य की पुष्टि होती है वराहमिहिर के उस कथन (पं०सि० 15.20) से भी जहाँ उन्होंने आर्यभट की दोनों रचनाओं को क्रम से अर्द्धरात्रिक एवं औदयिक विधियों पर आधारित कहा है। आर्यभटीय के दो टीकाकार-भास्कर प्रथम (आर्य० 3.10 की टीका) तथा नीलकंठ (आर्य० 4.48 की टीका) के अनुसार भी आर्यभटीय आर्यभट की दूसरी रचना है तथा आर्यभट-सिद्धान्त अथवा पूर्व तंत्र उनकी पहली रचना।

ऐसे अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि आर्यभटीय की तरह आर्यभट-सिद्धान्त भी विद्वानों के बीच समादृत होता रहा। वराहमिहिर (505 ई०), ब्रह्मगुप्त, गोविन्दस्वामी, मल्लिाकार्जुन, चंडेश्वर, रामकृष्ण आराध्य, भूधर,

तम्म यज्वा (16वीं शताब्दी) प्रभृत्ति ज्योतिषविदों ने अपनी-अपनी रचनाओं में इसकी चर्चा की है तथा इसके अवतरण भी उद्धृत किए हैं। ब्रह्मगुप्त ने यह भी स्वीकार किया है कि औदयिक प्रणाली से सम्बन्धित आर्यभट रचित ज्योतिष-ग्रंथ के आधार परही उन्होंने खंडखाद्यक की रचना की है।[4] करण ग्रंथ होने के कारण खंडखाद्यक विशेष उपयोगी सिद्ध हुई तथा गणना के सुलभ तरीके उपलब्ध होने से इस ग्रंथ से विवाह, वासादि दैनिक कार्यों के निष्पादन में सुविधा होने लगी। फलस्वरूप खंडखाद्यक लोकप्रिय हो गयी। आर्यभट-सिद्धान्त की ओर से लोगों का ध्यान हटने लगा और समय के अन्तराल में उसकी पांडुलिपि लुप्त हो गयी। जब तक उसकी पूरी पांडुलिपि उपलब्ध नहीं हो जाती है, तब तक उसकी विषय-वस्तु के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता।

2.7 **सूर्य-सिद्धान्त-प्रकाश :** आर्यभट के तीसरे ग्रंथ के सम्बन्ध में हमें भिन्न-भिन्न सूत्रों से सूचना तो मिलती है, पर अभी तक उसकी पांडुलिपि उपलब्ध नहीं हो पायी है। एस०एस० विल्सन (मद्रास, 1882ई०) ने लंदन के मेकेंजी कलेक्शन्स में उपलब्ध पांडुलिपियों की एक विस्तृत सूची तैयार की जिसमें आर्यभट विरचित सूर्य-सिद्धान्त पर 'सूर्य-सिद्धान्त-प्रकाश' नामक टीका की चर्चा है। डा०भाऊदाजी[5] तथा एस०एन० सेन[6] के अनुसार भी आर्यभट इस टीका के रचयिता हैं। इतना ही नहीं, मुनीश्वर (1603 ई०) जैसे कुछ ज्योतिर्विदों ने, सम्भवत: इसी तरह की सूचना के आधार पर आर्यभट को सूर्य-सिद्धान्त का रचनाकार ही मान लिया है।[7] आर्यभट के दूसरे ग्रंथ 'आर्यभट-सिद्धांत' के उपलब्ध अंश में जिन तथ्यों की विवेचना की गयी है, वे सूर्य-सिद्धान्त से मिलते जुलते हैं तथा उस पर उनकी लिखी टीका की पांडुलिपि की उपलब्धि की सूचना भी मिली है। अत: सम्भावना है कि इन्हीं कारणों से कुछ विद्वानों ने आर्यभट को ही सूर्य-सिद्धान्त का निर्माता मान लिया हो, पर इसकी पुष्टि के लिए कोई ठोस प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं होता। उपरोक्त तथ्यों से इतनी बात सुनिश्चित होती है, कि आर्यभट द्वारा सूर्य-सिद्धान्त पर एक टीका अवश्य लिखी गयी होगी। अध्येताओं द्वारा इस दिशा में प्रयास किए जाने की आवश्यकता है। इसकी पांडुलिपि की प्राप्ति के पश्चात् ही आर्यभट के कृतित्व के सम्बन्ध में यथोचित प्रकाश डाला जा सकता है।

2.8 **कुछ मुक्तक :** इस बीच कुछ ऐसे प्रमाण उपलब्ध हुए हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि आर्यभट ने कुछ मुक्तकों की भी रचना की है। शंकर नारायण (869 ई०) ने लघु भास्करीय की टीका में इस बात की ओर इंगित किया है कि उनके कुछ समकालीन ज्योतिर्विदों ने निम्न दो श्लोकों का रचनाकार आर्यभट को माना है:-

(क) 'वस्वेकेषुयुग्धनं मनुयुगमर्कादिमध्यम चतुर्णाम्।
धनमृणभृणमृण मथं कृतिगुणित चक्रेश मैर्लब्धम्।।'

(ख) 'भौमाङ्गिरश्शनीनां देयमृणं देयमब्धिन्दहृते।
सितबुधयो र्हेहं देयं सप्त हृतं बुधस्योत्क्रम्।।'

ये मुक्तक आर्या छंद में हैं। आर्यभटीय की रचना आर्या छंद में की गयी है, पर उसमें ये उपलब्ध नहीं हैं। आर्यभट-सिद्धान्त का जो अंश उपलब्ध हुआ है, वह अनुष्टुभ छंद में लिखा पाया गया है और इसलिए सम्भावना है कि पूरी पुस्तक अनुष्टुभ छंद में ही लिखी गयी होगी। स्वभावत: ये श्लोक इस ग्रंथ के भी नहीं हैं और इसलिए मुक्तक ही हैं।

भास्कर प्रथम (629 ई०) ने भी आर्यभटीय-भाष्य में ऐसे दो श्लोकों को उद्धृत किया है, जो आर्यभटीय के नहीं हैं। ये निम्नलिखित है[9] :-

(ग) 'एक द्वि-त्रि-चतु-रिषून् क्रमज्ञो भगणान् प्रयान्ति सर्वेषाम्।
कल्पादेर्गतकालान् गणनीयमतो गतिस्तेषाम्।।'

(घ) 'अष्टि-कृता-व्यष्टि-नना-जे (?) रूच्चयुगं तिग्मदीधितेरुक्तम्।
दशगणगुणितैरब्दैर्विश्वान् भुङ्०क्ते क्रमाद् भगणान्।।'

फिर मल्लिकार्जुन सूरि (1178 ई०) ने भी इस बात की पुष्टि की है कि आर्यभट द्वारा कुछ मुक्तक लिखे गए हैं। उन्होंने सूर्य-सिद्धान्त की टीका में आर्यभट रचित दो श्लोकों को उद्धृत किया है[10] :-

(ङ०) 'यो यो भाग: पर: सूक्ष्म: राशेरुदयामागत:।
पुनस्तस्योदयो ज्ञेयो दिवसो मोदयात्मक:।।'

(च) 'नाक्षत्रसावनादीनां स्वस्वसावनदिनानि।
यस्मात्तस्मादर्धं दण्डिगमनं मन्दबुद्धीनाम्।।'

ये श्लोक अनुष्टुभ छंद में हैं। आर्यभट-सिद्धान्त भी अनुष्टुम छंद में लिखी गयी है। अत: जब तक इस ग्रंथ की पांडुलिपि उपलब्ध नहीं हो जाती, तब तक यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि ये श्लोक इस पुस्तक के हैं अथवा स्वतंत्र रूप से लिखे गए हैं। इन सूचनाओं के आधार पर जब तक आर्यभट के अनुपलब्ध ग्रंथों की पांडुलिपियाँ उपलब्ध नहीं हो जातीं, यह अनुमान किया जा सकता है कि उन्होंने कुछ मुक्तकों की भी रचना की।

संदर्भ-सूची :

1. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य, शब्द कल्पद्रुम, प्रथम खंड, पृ०190 तथा बी०एस० आप्टे, संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी, पृ० 1036।
2. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य, डा० के०एस०शुक्ला, आर्यभटीय औफ आर्यभट, दिल्ली, 1976, इन्ट्रडक्शन पृ०35 एवं डा० परमेश्वर झा (वर्तमान लेखक), आर्यभट वन एंड हिज कन्ट्रिव्यूशन्स टू मैथमैटिक्स, पटना, 1988, पृ०46।
3. डा० के०एस० शुक्ला, आर्यभटाज एस्ट्रोनोमी विथ मिडनाईट डेय-रेकनिंग, गणित, अंक 18 (1967), पृ०83-105 तथा डा० परमेश्वर झा, वही (सं०2),

एपेन्डिक्स, पृ० 346–49 पर 34 श्लोक उद्धृत।

4. खंडखाद्यक, अध्याय 1, श्लोक 1, 2 एवं 7।
5. दि लिटररी रिमेंस, कलकत्ता, 1887, पृ०225।
6. ए बिब्लियोग्राफी आफ संस्कृत वर्क्स औन एस्ट्रोनोमी एंड मैथमैटिक्स, दिल्ली, 1966, भाग 1, पृ०10।
7. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य, सूर्य-सिद्धान्त, के०एस० शुक्ला (सं), लखनऊ 1957, इन्ट्रडक्शन, पृ०26–27।
8. लघुभास्करीय, पी०के०एन० पिल्लई (सं०), त्रिवेन्द्रम, 1949, पृ० 26।
9. महाभास्करीय, टी०एस० कुप्पन शास्त्री (सं०), मद्रास, 1957, इन्ट्रडक्शन, पृ०43।
10. डा० के०एस० शुक्ला, वही (सं०3), पृ० 104।

(3)

आर्यभट का गणितीय अवदान

3.1 **विषय-प्रवेश :** गणित-विज्ञान की व्यापकता सार्वभौम है। इसकी उपादेयता सर्वविदित है। सभ्य मनुष्य हों या जंगली-सभी अपने-अपने ढंग से दैनिक कार्यों के सम्पादन के लिए इसका व्यवहार करते हैं। यह विज्ञान की उद्घाटिका है। गणित-विज्ञान की आधारशिला पर ही अन्य विज्ञानों का मूल्यांकन होता है। गणित शब्द अति प्राचीन है तथा वैदिक साहित्य में बहुतायत से मिलता है। धार्मिक कार्यों में सहायक होने के कारण ही प्रारम्भिक वैदिक काल में इसका विकास हुआ। वेदांग ज्योतिष (1200 ई०) में इसे वेदांग शास्त्रों में सर्वोपरि माना गया है -'गणितं मूर्ध्नि स्थितम्।' जैनाचार्यों ने गणित की उन्नति को महत्त्व प्रदान किया है तथा 'संख्यान' उनके लिए मुख्य साधन माना गया है। बौद्ध साहित्य में भी गणित को श्रेष्ठतम कला माना गया है। इन सबसे भली-भाँति यह अनुमान लगाया जा सकता है कि प्राचीन भारत के सामाजिक जीवन में गणित का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान था तथा इसकी उन्नति को कितना महत्त्व प्रदान किया गया।[1]

गणित का शाब्दिक अर्थ है गणन किया हुआ अथवा गिना हुआ। अत: गणित का विषय गिनती से आरम्भ हुआ है। आवश्यकताओं की अभिवृद्धि तथा सभ्यता के विकास के साथ-साथ गणित के क्षेत्र का विकास होता गया। अत: यह गिनती कुछ समय पश्चात् अंकगणित में परिणत हो गयी। दीर्घ काल बीतने पर गणित की कई अन्य शाखाएँ फूट निकलीं-बीजगणित, ज्यामिति, क्षेत्रमिति, त्रिकोणमिति, कलनशास्त्र आदि जिसका विकास उत्तरोत्तर होता गया।

मिस्र, रोम, चीन, यूनान आदि प्राचीन सभ्य देशों में भी गणित-विज्ञान के विकास का प्राचीन इतिहास उपलब्ध है, पर भारत में ईसा के बहुत पूर्व ही गणित की जागृति का काल आरम्भ हो चुका था। ऋग्वेद (3000 ई०पू०), यजुर्वेद, तैत्तिरीय एवं मैत्रायणी संहिताओं, शतपथ ब्राह्मण आदि प्राचीन ग्रंथों में अठारह स्थानों की गिनती, द्विघातीय समीकरणों के साधन, वेदी-संरचनाओं की विधि जैसे अनेक गणितीय सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है। फिर वौधायन, आपस्तम्ब, कात्यायन, मानव आदि शुल्व-सूत्रों (८00-500 ई०पू०) में भी ज्यामितीय एवं बीजगणितीय सिद्धान्तों की चर्चा है। सूर्य-प्रज्ञप्ति (500 ई०पू०), ज्योतिष्करण्डक, स्थानांग सूत्र, भगवती सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, अनुयोगद्वार सूत्र जैसे अनेकानेक जैन धार्मिक ग्रंथों में तथा बौद्ध ग्रंथ ललित विस्तर (प्रथम शताब्दी ई०पू०) में बड़ी-बड़ी संख्याओं एवं बीजगणितीय सूत्रों का विवेचन मिलता है।[2] वक्षाली गणित (200 ई०) में भी गणितीय विषयों, उदाहरणों एवं उनके हल करने की

विधियों का संकलन है, पर इसके लुप्त हो जाने के कारण इसमें प्रतिपादित सिद्धान्तों से यहाँ के गणितज्ञ प्राय: अज्ञात रहे। इसके अनन्तर ज्योतिष के सिद्धान्त ग्रंथों में भी गणितीय सिद्धान्तों का प्रयोग मिलता है। इस तरह भारत में गणितीय सिद्धान्तों का व्यवहार ईसा के बहुत पूर्व ही आरम्भ हो चुका था, पर ज्योतिष-ग्रंथों में स्वतंत्र रूप से इन सिद्धान्तों का विवेचन चौथी शताब्दी के पूर्व तक नहीं हो सका था। आर्यभट ही सर्व प्रथम गणितज्ञ हैं जिन्होंने अपने ज्योतिष-ग्रंथ में गणित सम्बन्धी स्वतंत्र अध्याय का श्रीगणेश किया। ऐसा कर उन्होंने गणित-विज्ञान को एक नयी दिशा दी जिसका अनुसरण कर ब्रह्मगुप्त, महावीर, श्रीधर, भास्कर द्वितीय जैसे अनेक प्रतिभा सम्पन्न परवर्ती विद्वानों ने भारतीय गणित के विकासमें अपूर्व योगदान दिया। साथ ही उन लोगों ने गणित सम्बन्धी स्वतंत्र ग्रंथों की रचना भी की। सचमुच आर्यभट भारतीय गणित के सूत्रधार हैं और इसलिए गणितज्ञों में उन्हें शीर्षस्थ स्थान प्राप्त है। आर्यभटीय में सूत्र रूप में गणित विषयक नितांत मौलिक सामग्री उपलब्ध है, पर तत्सम्बन्धी प्रमाणों एवं उदाहरणों का अभाव सा है। जो भी हो, उनकी गणितीय उपलब्धियों का विस्तृत विवेचन तो यहाँ सम्भव नहीं है, पर उनके गणितीय वैशिष्ट्य से अवगत होने के लिए उनके कुछ प्रमुख अवदान का उल्लेख आवश्यक है।

3.2 **अक्षर-संकेत :** प्राचीन भारत में छन्दशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र आदि विषयों से सम्बन्धित ग्रंथों को पद्य में रचने की प्रथा थी। इन ग्रंथों में गणित के उदाहरणों में आनेवाली बड़ी-बड़ी संख्याओं को सूचित करने के लिए सुगम रीति की आवश्यकता पड़ी। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए सर्वप्रथम शब्दांकों का आविष्कार किया गया, पर इसमें शब्द-बाहुल्य होने से कभी-कभी एक ही संख्या को लिखने के लिए एक पूरे श्लोक अथवा एक से अधिक श्लोकों की भी आवश्यकता हो जाती थी। अतएव इस कठिनाई से मुक्ति पाने के लिए भारतीय विद्वानों ने अक्षर-संकेत, कटपयादि, अक्षर पल्ली आदि पद्धतियों का आविष्कार किया जिनके द्वारा अंकों के स्थान में अक्षरों का प्रयोग किया जाने लगा। इससे सूत्रों एवं सिद्धान्तों को पद्यबद्ध करने में सुविधा तो हुई, पर उनका ज्ञान विद्वानों तक ही सीमित रहा। संस्कृत वर्णमाला के अक्षरों (स्वरों) द्वारा अंकों को सूचित करने की प्रणाली पाणिनि (700 ई०पू०) की अष्टाध्यायी में सर्वप्रथम दृष्टिगोचर होती है, पर इसका प्रयोग लोकप्रिय नहीं हो सका। 5वीं शताब्दी से अक्षर-संकेत की भिन्न-भिन्न पद्धतियों का उपयोग ज्योतिष-ग्रंथों में किया जाने लगा। ऐसी ही एक नवीन, अनोखी पद्धति का प्रयोग हमें आर्यभटीय के दशगीतिकापाद में मिलता है जिसके माध्यम से ही आर्यभट ने ज्योतिषोपयोगी संख्याओं को पद्यबद्ध किया है। पद्धति को निम्न रूप में व्यक्त किया गया:-

'वर्गाक्षराणि वर्गेऽवर्गेऽवर्गाक्षरणिकात् ङ्मौ यः।
खद्विनवके स्वरा नववर्गेऽवर्गे नवान्त्यवर्गे वा।। (आर्य० 1.2)

अर्थात् 'क से प्रारम्भ करके वर्ग अक्षरों को वर्ग स्थानों में और य से प्रारम्भ करके अवर्ग अक्षरों को अवर्ग स्थानों में (व्यवहार करना चाहिए), इस प्रकार ङ० तथा म का

जोड़ य होता है। नौ स्वर वर्ग और अवर्ग स्थानों के नौ के दूने शून्यों को व्यक्त करते हैं। यही क्रिया (वर्ग और अवर्ग स्थानों) के बाद भी प्रयुक्त की जानी चाहिए।'

देवनागरी वर्णमाला को दो विभागों में विभक्त किया जाता है। वे हैं-व्यंजन और स्वर। व्यंजन को पुन: दो भागों में विभक्त किया जाता है-वर्गीय एवं अवर्गीय। वर्गीय व्यंजक पाँच अक्षरों के पाँच समूह में संचित किए जाते हैं, यथा क वर्ग -क, ख, ग, घ, ङ; च वर्ग- च, छ, ज, झ, ञ ; ट वर्ग- ट, ठ, ड, ढ, ण; त वर्ग- त, थ, द, ध, न; प वर्ग- प, फ, ब, भ, म। अवर्गीय व्यंजन आठ हैं - य, र, ल, व, श, ष, स, ह। स्वरों की संख्या सोलह है, पर यहाँ नौ स्वरों का ही प्रयोग किया गया है। ह्रस्व एवं दीर्घ वर्णों में एक-एक यथा अ, आ, में से कोई एक, इ, ई में से एक, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, में से एक-एक तथा ए, ऐ, ओ एवं औ। अनुस्वार तथा विसर्ग को पूर्णत: छोड़ दिया गया है। फिर संख्याओं के लिखने में दाहिनी ओर से पहला (इकाई), तीसरा (सैकड़ा), पाँचवाँ (दश हजार) आदि विषम स्थान, वर्ग स्थान और दूसरा (दहाई), चौथा (हजार), छठा (एक लाख) आदि सम स्थान वर्ग स्थान हैं। नियम के अनुसार क =1, ख = 2, ग =3, घ = 4, ङ = 5, च = 6, ... म = 25, तथा य = ङ+म = 5+25 = 30 और र = 40, ल = 50 ....ह = 100। यह भी ध्यान देने की बात है कि य, र .... ह के मान 30, 40 ....100 हैं जब स्वर 'अ' उनके साथ है अन्यथा य से ह तक के अक्षर 3, 4, 5, 6, 7, 8, 9, 10 अंकों को ही प्रदर्शित करेंगे।

उपरोक्त आर्या के प्रथम भाग के अनुसार वर्गाक्षर सिर्फ वर्ग स्थान यानी इकाई, सैकड़ा, दश हजार .... के स्थानों पर तथा अ वर्गाक्षर सिर्फ अवर्ग स्थान यानी दहाई, हजार .... के स्थानों पर ही रखे जा सकते हैं। फिर तीसरे भाग के अनुसार नौ स्वरों का उपयोग नौ वर्ग और नौ अवर्ग स्थानों को प्रकट करने के लिए ही किया जाना चाहिए। स्वरों का अपना कोई अंकात्मक मान नहीं है, केवल स्थानों को ये सूचित करते है। उदाहरण के लिए 'नीति' शब्द लें। न एवं त दोनों वर्गाक्षर हैं और दोनों में स्वर 'इ' है। इसलिए दोनों दूसरे जोड़े के वर्ग स्थान में होंगे अर्थात् नी = 2000 तथा ति = 1600 और इस तरह नीति का संख्यात्मक मान है 2000+1600 = 3600। नौ स्वर वर्गाक्षर एवं अर्वाक्षर में मिलकर अठारहों स्थान का प्रदर्शन निम्नलिखित रूप में करते हैं:-

क+अ = 1, कि = क+इ = 100, कु = 10000, कृ = 1000000, क्ऌ = 100,00,00,00 ....; ख = 2, खि = 200, खु = 20000; य = 30, यि = 3000, ...

यहाँ ह्रस्व-दीर्घ स्वरों में भेद नहीं किया गया है यथा कि=की=100 आदि। साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि संयुक्ताक्षर में प्रयुक्त स्वर दोनों व्यंजनों का स्वर समझा जाता है, जैसे रव्यु से खु+यु का बोध होता है। जिस प्रकार दशमलव पद्धति में एक ही अंक का मान उसके स्थान के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है, उसी प्रकार एक ही व्यंजन का मान

भिन्न-भिन्न स्वरों के संयोग से भिन्न-भिन्न होता है, जैसे ग = 3, गि = 300, गु = 30000 ....।

आर्यभटीय के दशगीतिकापाद में आर्यभट ने बड़ी-बड़ी संख्याओं को प्रकट करने के लिए इस अक्षर-संकेत का प्रयोग किया है। 'युगरविभगण: ख्युघृ' (आर्य०1.3) के अनुसार एक महायुग में सूर्य के भगणों की संख्या 'ख्युघृ' है जिसका मान खु+यु+घृ जहाँ
वर्गाक्षर खु = ख्+उ = 20000
अ वर्गाक्षर यु = य्+उ = 300000
तथा वर्गाक्षर घृ = घ्+ऋ = 4000000
जोड़ने पर ख्यु घृ = 43,20,000
फिर (वहीं) पृथ्वी की भगण संख्या भी इस रूप में दी गयी है-'ङि० शिबुण्लृख्षृ'।
यहाँ ङि० = 500
शि = 7000
बु = 230000
ण्लृ = 1500000000
ख्‍ृ = 2000000
षृ = 80000000
जोड़ने पर = 1,58,22,37,500।

इस चमत्कारपूर्ण विधि का आविष्कार कर आर्यभट ने अपनी विलक्षण बुद्धि का परिचय दिया है। दशगीतिका पाद के दश श्लोकों में ही उन्होंने इस अनूठी रीति के माध्यम से उन सभी खगोलीय संख्याओं को प्रस्तुत किया है, जो दूसरे ग्रंथों में अनेक श्लोकों में किया गया है। सूर्य-सिद्धान्त में तो दो अध्यायों-मध्यमाधिकार एवं स्पष्टाधिकार में इन संख्याओं को व्यक्त किया गया है। सम्भवत: अपनी वैज्ञानिक उपलब्धि को गुप्त रखने के उद्देश्य से ही उन्होंने इस पद्धति का अन्वेषण किया। इस पद्धति की यह विशेषता है कि संख्या सूचक शब्द बहुत छोटे बनते हैं जिसे स्मरण रखने में सुविधा होती है, पर इससे हानि यह है कि ये शब्द इतने जटिल हो जाते है कि उनका ठीक-ठीक उच्चारण नहीं हो पाता। साथ ही गणितीय क्रियाओं के लिए भी इसका प्रयोग सम्भव नहीं है। यही कारण है कि यह पद्धति लोकप्रिय नहीं हो सकी। फलस्वरूप इससे प्रेरित होकर भास्कर प्रथम, ब्रह्मगुप्त आदि परवर्त्ती विद्वानों ने इससे सुलभ विधि-कटपयादि पद्धति का आविष्कार किया। इस संकेत की विशिष्टता ने जी०आर० केय जैसे कुछ पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया जिन्होंने इसमें यूनानी पद्धति का प्रभाव दिखलाने का प्रयास किया, पर दोनों पद्धतियों के तुलनात्मक अध्ययन से यह प्रमाणित होता है कि उनका यह मानना निराधार है, तथ्य से परे है।[3] वास्तविकता यही है कि इस अक्षर-संकेत-विधि का अन्वेषण आर्यभट की मौलिक देन है।

3.3 अंकगणित :

(क) अंक-स्थानों के नाम : दशमलव स्थानमान संकेत-पद्धति गणित की एक महत्त्वपूर्ण क्रांतिकारी पद्धति मानी जाती है। इसके अनुसार शून्य एवं एक से नौ तक के अंकों-इन दश चिह्नों के द्वारा किसी भी संख्या को सरलता से लिखा जा सकता है। यह अब प्राय: निश्चित हो चुका है कि यह पद्धति भारतीय ज्योतिषाचार्यों के मस्तिष्क की ही उपज है जो आज समस्त संसार में स्वीकृत एवं प्रचलित है। अन्य देशों में जहाँ इसका प्रयोग 10वीं-11वीं शताब्दी से मिलता है, वहाँ भारत में बहुत पूर्व से ही यह प्रचलित है। उपलब्ध पुरालेख सम्बन्धी प्रमाणों से यह प्रमाणित होता है कि इसका आविष्कार 200 ई०पू० में ही हो गया था। अनुयोगदार सूत्र, पुराणों, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक ग्रंथों में तो ईसा के पूर्व से ही अंक-स्थान एवं स्थानमान सिद्धान्त का उल्लेख मिलता है, पर गणित ग्रंथ में सर्वप्रथम इसका प्रयोग वक्षाली हस्तलिपि में संख्याओं के लिखने के क्रम में पाया जाता है।[4] आर्यभट, ब्रह्मगुप्त आदि अनुवर्त्ती गणितज्ञों की रचनाओं में प्रचुर मात्रा में इसका उपयोग मिलता है। आर्यभट के अक्षर-संकेत (उपरोक्त श्लोक) में तो दशमलव-पद्धति की झाँकी मिलती ही है, साथ ही उनके अंक-संज्ञा से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। आर्यभट प्रदत्त संख्या लिखने की दशमलव-पद्धति की इकाइयों के नाम निम्न प्रकार हैं :-

'एक च दश च शतं च सहस्रमयुतनियते तथा प्रयुतम्।
कोट्यर्बुदं च वृन्दं स्थानात् स्थानं दशगुणं स्यात्।।' (आर्य० 2.2)

अर्थात् 'एक (इकाई), दश (दहाई), शत (सैकड़ा), सहस्र (हजार), अयुत (दशहजार), नियुत (लाख), प्रयुत (दश लाख), कोटि (करोड़), अर्बुद (दश करोड़), वृन्द (अरब) स्थानों में से प्रत्येक अपनी पिछलेवाली संख्या से दश गुनी है।' इसी कारण इसे दशगुणोत्तर प्रणाली भी कहते हैं। द्रष्टव्य है कि आर्यभट ने यहाँ सिर्फ दश स्थानों के ही नाम दिए हैं, पर उपरोक्त आर्या में उन्होंने अठारह या उससे अधिक स्थानों की भी कल्पना की है। 'स्थानात्स्थाने ने दशगुणं स्यात्' द्वारा इंगित कियागया है कि दश स्थानों के बाद भी इसी नियम से आगे के स्थानों को निकाला जा सकता है। यजुर्वेद संहिता, तैत्तिरीय संहिता, ललित विस्तर, अनुयोगद्वार सूत्र आदि प्राचीन ग्रंथों में बड़ी-बड़ी संख्याओं के नामकरण किए गए हैं, पर स्थानों के नाम सर्व प्रथम आर्यभटीय में ही पाए जाते हैं। श्रीधर, भास्कर द्वितीय, नारायण पंडित आदि विद्वानों ने इसे थोड़ा विकसित किया तथा अठारह स्थानों तक के नाम दिए हैं। महावीराचार्य (850 ई०) ने तो चौबीस स्थानों तक के नामकरण किए हैं।[5] दश स्थानों तक के नाम प्राय: वही हैं, सिर्फ नियुतको लक्ष तथा वृन्द को 'अब्ज' कहा गया है। वृन्द से आगे आनेवाली संख्याओं के नाम इस प्रकार हैं- खर्व, निखर्व, महापद्म, शंकु, जलधि, अन्त्य, मध्य एवं परार्द्ध। जो भी हो, गणितीय ग्रंथों में आर्यभट ने ही अंक-संज्ञा का श्रीगणेश किया।

(ख) मौलिक परिकर्म : भारतीय गणित के मौलिक परिकर्मों की संख्या आठ है-संकलन (जोड़), व्यवकलन (घटाव), गुणन, भाग, वर्ग, वर्गमूल, घन और घनमूल। जोड़, घटाव, गुणा तथा भाग से सम्बन्धित नियमों का आर्यभट ने उल्लेख नहीं किया है, यद्यपि इनका व्यवहार दूसरे-दूसरे नियमों में किया गया है। सम्भवतः सुलभ एवं साधारण समझकर ही उन्होंने इन नियमों का विवेचन नहीं किया। वर्ग एवं घन की परिभाषा देते हुए उन्होंने कहा है कि 'सदृशद्वयस्य संवर्ग'-दो समान संख्याओं का गुणनफल वर्ग है तथा 'सदृशत्रय संवर्गो'- तीन सदृश संख्याओं का गुणनफल घन है (आर्य० 2.3) जिससे ज्ञात होता है कि वर्ग एवं घन-इन दो परिकर्मों की जानकारी भी उन्हें थी। दो मूलभूत प्रक्रियाओं-वर्गमूल एवं घनमूल के नियम निम्नलिखित हैं:-

वर्गमूल :-

'भागं हरेदवर्गान्नित्यं द्विगुणेन वर्गमूलेन।
वर्गाद्वर्गे शुद्धे लब्धं स्थानान्तरे मूलम्।।' (आर्य० 2.4)

अर्थात् '(अन्तिम वर्ग स्थान में से बड़ी से बड़ी जो वर्ग संख्या घट जाये उसे घटाना चाहिए। इसके बाद) सर्वदा वर्गमूल के दुगुने से अवर्ग स्थान को भाग देना चाहिए। भाग करने से प्राप्त लब्धि के वर्ग को (आगे के) वर्ग स्थान में से घटाना चाहिए। घटाने पर लब्धि वर्गमूल के अगले स्थान का अंक होगी।' नियम का वर्णन संक्षेप में है, पर भास्कर प्रथम, परमेश्वर, नीलकंठ आदि टीकाकारों ने इसे स्पष्ट किया है। दाहिने से प्रथम, तृतीय, पंचम आदि विषम स्थान वर्ग स्थान हैं और द्वितीय, चतुर्थ आदि अवर्ग स्थान हैं। नियमानुसार पहले अन्तिम वर्ग स्थान की संख्या से मूल प्राप्त करना चाहिए। फिर उसके दूने से अवर्ग स्थान की संख्या को सर्वदा विभाजित करना चाहिए। इस लब्धि के वर्ग को वर्ग स्थान की संख्या में से घटाना चाहिए और लब्धि को वर्गमूल की पंक्ति में अगले स्थान पर रखना चाहिए। यही क्रिया वर्गमूल की पंक्ति के अगले अंक को प्राप्त करने के लिए फिर करनी चाहिए। इस तरह पृथक पंक्ति में रखी हुई संख्या वर्गमूल सूचित करती है। 'नित्य' के प्रयोग से यही अर्थ निकलता है कि भाग सर्वदा देना चाहिए चाहे लब्धि स्थान में शून्य ही क्यों न प्राप्त हो। इस क्रिया में कई बार जाँच भागफल लेना होता है। जो जाँच भाजक प्रतीत होता उसको या उससे कम एक ही अंक लेना पड़ता है अन्यथा आगे की क्रिया असम्भव हो जाती है। यह विधि निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट होती है:-

207936 का वर्गमूल निकालें।

वर्ग एवं अवर्ग स्थानों को क्रमशः ऊर्ध्वाधर एवं क्षैतिज रेखाओं से चिह्नित करने पर वर्गमूल की क्रिया निम्न प्रकार से की जाती है:-

	207936	4 = अन्तिम अवर्ग स्थान 20 का वर्गमूल।
वर्गमूल 4 के वर्ग अर्थात्		
$4^2 = 16$ को घटाने पर	16 47	
द्विगुणित वर्ग अर्थात् 2 x 4		
से भाग देने पर	40 79	5 = लब्धि अथवा वर्गमूल का दूसरा अंक।
फिर लब्धि के वर्ग अर्थात्		
$5^2 = 25$ को घटाने पर	25 543	5 को एक स्थान हटाकर रखने पर वर्गमूल = 45।
द्विगुणित वर्गमूल अर्थात्		
2 x 45 = 90 से भाग देने पर	540 36	6 = लब्धि या मूल का तीसरा अंक।
लब्धि के वर्ग अर्थात् 6^2 को		
घटाने पर	36 x	लब्धि को एक स्थान हटाकर लिखने पर वर्गमूल = 456।

क्रिया समाप्त हो गयी। इसलिए वर्गमूल = 456।

आधुनिक विधि :

4	207936	456
4	16	
85	479	
5	425	
906	5436	
6	5436	
	x	

इसलिए वर्गमूल = 456

कैटेनिओ की विधि :

```
207936 (456
16
------
 47
 40
------
  79
  25
------
  543
  540
------
    36
    36
------
     x
```

इसलिए वर्गमूल = 456

गणितज्ञ एवं गणित के इतिहासज्ञ डी०ई० स्मिथ के अनुसार वर्गमूल की आधुनिक विधि का श्रीगणेश कैटेनिओ (1546 ई०) ने किया था", पर उपरिलिखित तीनों विधियों के तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि कैटेनिओ की विधि ठीक वही है जो आर्यभट ने दी है तथा आधुनिक विधि भी उससे अभिन्न है, इसमें सिर्फ पदों की संख्या कुछ कम है। शुल्व-सूत्रों एवं प्राचीन जैन-ज्योतिष-ग्रंथों में भी वर्गमूल की विधि का उल्लेख है, पर आर्यभट ने तत्समम्बन्धी वैज्ञानिक विधि की विवेचना की है। परवर्त्ती प्राय: सभी भारतीय वैज्ञानिकों ने आर्यभट की विधि का अनुसरण किया है, पर उन लोगों ने स्पष्ट रूप से उसकी व्याख्या की है तथा उदाहरण भी दिए हैं। गणित के अरबी ग्रंथों में ठीक इसी स्वरूप की विधि मिलती है तथा अन्य यूरोपीय देशों में भी इसका प्रचार-प्रसार हुआ। इस तरह आर्यभट की यह देन भी मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण है।

घनमूल : इस परिकर्म का भी सर्व प्रथम विवेचन आर्यभटीय में ही मिलता है जो निम्नलिखित है:-

'अघनाद्भजेद् द्वितीयात् त्रिगुणेन घनस्य मूल वर्गेण।
वर्गस्त्रिपूर्वगुणित: शोध्य:प्रथमाद् घनश्च घनात्।।' (आर्य० 2.5)

अर्थात् (अन्तिम घन स्थान में सबसे बड़ी घन संख्या घटाना चाहिए। इसके बाद) द्वितीय अघन (स्थान) से आरम्भ करके जो संख्या बायीं ओर हो उसे) घनमूल के वर्ग के तिगुने से भाग देना चाहिए। (इसके बाद) प्रथम घन से (आरम्भ करके बायीं ओर जो

संख्या हो उसमें से) त्रिगुणित घनमूल के गुणनफल को तथा (अगले) घनस्थान से लब्धि के घन को घटाना चाहिए।'

वर्गमूल की तरह यहाँ भी जिस संख्या का घनमूल निकालना हो उसके अंकों का वर्गीकरण किया जाता है। दाहिने से प्रथम, चतुर्थ, सप्तम आदि स्थानों के अंक घन स्थानों के अंक हैं; द्वितीय, पंचम, अष्टम आदि स्थानों के अंक प्रथम अघन स्थानों के अंक हैं; तृतीय, षष्ठ, नवम आदि स्थानों के अंक द्वितीय अघन स्थानों के अंक हैं। दी हई संख्या के ऊपर घन, प्रथम घन तथा द्वितीय अघन स्थानों के चिह्न लगाने के बाद घनमूल निकालने की क्रिया का आरम्भ अन्तिम घन स्थान में सबसे बड़ी घन संख्या के घटाने से होता है। आगे की प्रक्रिया के लिए यह पूर्ण घनमूल होगा। इसके वर्ग के तीन गुने से द्वितीय अघन में भाग देना चाहिए और सूत्र में बतायी गयी प्रक्रिया करनी चाहिए। इसके बाद जो संख्या मिलेगी वह आगे की प्रक्रिया के लिए पूर्व घनमूल होगी। इसी तरह आगे की क्रिया तब तक करनी चाहिए जब तक शेष शून्य न हो जाय। इस तरह प्राप्त लब्धियों को क्रमशः पृथक पंक्ति में रखना चाहिए जो संख्या घनमूल को सूचित करती है। निम्नलिखित उदाहरण से यह विधि स्पष्ट होती है:-

	34965783	3 = घनमूल
घनमूल के घन अर्थात् 3^3 को घटाने पर	27 / 79	
घनमूल के वर्ग के तिगुने अर्थात् 3×3^2 से भाग देने पर	54 / 256	2 = लब्धि / घनमूल के बाद लब्धि रखने पर घनमूल = 32
लब्धि के वर्ग को पूर्व के मूल में उसे गुणा करने पर मिली संख्या अर्थात् $2^2 \times 3 \times 3$ को घटाने पर	36 / 2205	
लब्धि के घन अर्थात् 2^3 को घटाने पर	8 / 21977	
घनमूल के वर्ग के तिगुने		

अर्थात् $3x32^2$ से भाग देने पर — 21504 / 4738 — 7 = लब्धि/ उपरोक्त घनमूल के बाद लब्धि 7 के रखने पर घनमूल = 327

लब्धि के वर्ग को पूर्व के घनमूल में उसे गुणा करने पर मिली संख्या

अर्थात् 7^2x3x32 को घटाने पर — 4704 / 343

लब्धि के घन अर्थात् 6^3 को

घटाने पर — 343 / x

चूँकि दाहिनी ओर अब कोई अंक नहीं है, इसलिए क्रिया समाप्त होती है। शेषफल शून्य है, इसलिए घनमूल पूर्ण है जो 327 है।

आधुनिक विधि :-

$3^2x300 = 2700$	34965783 (327
$3x30x2 = 180$	27
$2^2 = 4$	7965
2884	5768
$32^2x300 = 307200$	2197783
$32x30x6 = 6720$	2197783
$7^2 = 49$	x
313969	

अभीष्ट घनमूल = 327

इन दोनों विधियों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि दोनों मूलत: एक ही हैं- आधुनिक विधि आर्यभट विधि का ही लघु रूप है। परवर्त्ती सभी विद्वानों ने आर्यभट-विधि का ही अनुसरण किया है। उन लोगों ने स्पष्ट रूप से नियम की व्याख्या कर उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं।

(ग) त्रैराशिक नियम : इसका अर्थ है तीन राशियों से सम्बन्ध रखने वाला नियम। नियम साधारण है, सरल है, पर इसकी उपयोगिता का क्षेत्र विस्तृत है। अंकगणित के प्राय: सभी तरह के प्रश्नों, यथा प्रतिशत, सूद, लाभ-हानि, साझा-विनियम, व्यावसायिक आदि प्रश्नों के हल करने में इसकी सहायता ली जाती है। इसकी व्यापकता के कारण ही इसकी

प्रशंसा की गयी है तथा इसे 'स्वर्ण नियम' की संज्ञा दी गयी है। यह नियम भी भारतीय विद्वानों की देन है जिसे अरब के गणितज्ञों ने 8वीं शताब्दी में ही अपनाया। पाश्चात्य देशों में इसका सर्वप्रथम प्रयोग 15वीं शताब्दी में बीडमैन (1489 ई०) की पुस्तक में पाया जाता है।[7] इस नियम की विवेचना भी आर्यभट ने ही सबसे पहले की है जो निम्नलिखित है:-

'त्रैराशिक फलराशिं तमक्षेच्छाराशिना हतं कृत्वा।
लब्धं प्रमाणभजितं तस्मादिच्छाफलमिदं स्यात्।। (आर्य० 2.26);

अर्थात् 'त्रैराशिक में फल राशि (प्रमाण फल) को इच्छा राशि से गुणा करना चाहिए और प्राप्त गुणनफल को प्रमाण राशि से भाग देना चाहिए। इस प्रकार भाग करने से जो लब्धि प्राप्त होती है, वही इच्छा फल है। नियम के अनुसार इच्छा फल

$$= \frac{\text{प्रमाण फल x इच्छा राशि}}{\text{प्रमाण}}$$

स्पष्ट रूप से आर्यभट ने यह नहीं बतलाया है, कि इन तीनों की इकाई क्या हो, पर नियम से यह साफ है कि प्रमाण एवंइच्छा राशि एक ही इकाई के हों। यदि प्रमाण फल को क, इच्छा राशि को ख, प्रमाण को ग तथा इच्छा फल को अ मानें तो सूत्र का निम्न रूप हो जाता है:-

$$\text{अ} = \frac{\text{क x ख}}{\text{ग}}$$ जहाँ ग और ख एक इकाई के हैं।

उदाहरणार्थ यदि 4 रूपए में 16 आम मिलते हैं, तो 6 रूपए में कितने आम मिलेंगे?

$$\text{इच्छा फल (आम की संख्या)} = \frac{16 \text{ X } 6}{4} \text{ आम} = 24 \text{ आम}$$

इससे इसकी भी जानकारी होती है कि आर्यभट को अनुपात एवं समानुपात का ज्ञान था।

जैसे $\frac{\text{क}}{\text{ग}} = \frac{\text{अ}}{\text{ख}}$ अथवा $\frac{\text{ग}}{\text{क}} = \frac{\text{ख}}{\text{अ}}$ आदि ।

आर्यभट ने सिर्फ त्रैराशिक नियम का ही कथन किया है, पर परवर्त्ती गणितज्ञों ने मिश्रानुपात-पंचराशिक, सप्तराशिक, नवराशिक आदि की व्याख्या के साथ-साथ तत्सम्बन्धी उदाहरण भी दिए हैं।[8]

(घ) भिन्नों के परिकर्म : भारत में भिन्नों का ज्ञान अति प्राचीन काल (3000 ई०पू०) में ही हो गया था। ऋग्वेद, मैत्रायणी संहिता, शतपथ ब्राह्मण, शुल्व-सूत्र, कौटिल्य के अर्थशास्त्र, ललित विस्तर आदि प्राचनी ग्रंथों में इसका उल्लेख मिला है तथा प्रश्नों के

विस्तार आदि प्राचीन ग्रंथों में इसका उल्लेख मिलता है तथा प्रश्नों के न्यास एवं करण में इसका प्रायोग भी पाया जाता है। वक्षाली गणित में भिन्न सम्बन्धी सभी परिकर्मों की चर्चा है। आर्यभट ने जिन परिकर्मों की विवेचना की है, वे निम्नलिखित हैं:-

'छेदाः परस्परहता भवन्ति गुणकारभागहाराणाम्।
छेदगुणं सच्छेदं परस्परं तत्सवर्णत्वम्॥' (आर्य० 2.27)

अर्थात् 'गुणकार भागहार के छेद (हर) से गुणित होता है तथा भागहार गुणकार के छेदों से गुणित होता है। छेद सहित राशि अर्थात् भिन्न राशियों में परस्पर अंश और हर के गुणन से सवर्णत्व अर्थात् सजातीयता प्राप्त होती है।' यहाँ भी नियम बहुत ही संक्षेप में है। इसका अर्थ सदैव पहेली जैसा बना रहा है। भिन्न-भिन्न टीकाकारों ने इसका अर्थ अलग-अलग किया है। भास्कर प्रथम एवं सूर्यदेव यज्वा के अर्थों में साम्य है, जो ठीक जँचते हैं। यहाँ गुणकार का अर्थ है गुणक और गुण्य अर्थात् फल और इच्छा राशियों को आपस में गुणा करना तथा भागहार का अर्थ है भाजक अर्थात् प्रमाण राशि। सवर्ण का अर्थ है एक ही हर (या छेद) का होना। यह तब होगा जब एक के अंश से दूसरे के हर को और एक के हर से दूसरे के अंश को गुणा किया जाय। इससे पूर्व दिए गए त्रैराशिक-नियम में प्रमाण, प्रमाण फल, इच्छा राशि के दिए रहने पर इच्छा-फल को पाने की विधि बतलायी गयी है। ये अगर भिन्नात्मक राशि हों, तो क्रिया कैसे करनी चाहिए- यहाँ इसी से सम्बन्धित नियम का उल्लेख है। यहाँ प्रमाण फल तथा इच्छा राशि गुणकार तथा प्रमाण भागहार है। आर्या के प्रथम भाग के अंनुसार,

$$\frac{\frac{\text{क}}{\text{ख}}}{\frac{\text{ग}}{\text{घ}}} = \frac{\text{कघ}}{\text{खग}} \quad \text{और}$$

$$\frac{\frac{\text{क}}{\text{ख}} \times \frac{\text{ग}}{\text{घ}}}{\frac{\text{च}}{\text{छ}} \times \frac{\text{ज}}{\text{झ}}} = \frac{\frac{\text{कग}}{\text{खघ}}}{\frac{\text{चज}}{\text{छझ}}} = \frac{\text{कगछझ}}{\text{खघचज}}$$

इससे भिन्नों के भाग एवं गुणा करने की विधि की जानकारी होती है। इस आर्या के दूसरे भाग से हमें भिन्नों के जोड़ एवं अन्तर की विधि भी ज्ञात होती है। इसके लिए आर्यभट ने बतलाया है कि दोनों का उभयनिष्ट हर कैसे प्राप्त किया जा सकता है। इसके बाद ही जोड़ या घटाव की क्रियाएँ की जा सकती हैं। यदि $\frac{\text{क}}{\text{ख}}$ और $\frac{\text{ग}}{\text{घ}}$ दो भिन्न हों तो $\frac{\text{क घ}}{\text{ख घ}}$

तथा $\frac{ख\ ग}{ख\ घ}$ के रूप में इन्हें लिख जा सकता है।

इसलिए $\frac{क}{ख}+\frac{ग}{घ}=\frac{क\ घ}{ख\ घ}+\frac{ख\ ग}{ख\ घ}=\frac{क\ घ + ख\ ग}{ख\ घ}$

और $\frac{क}{ख}-\frac{ग}{घ}=\frac{क\ घ}{ख\ घ}-\frac{ख\ ग}{ख\ घ}=\frac{क\ घ-ख\ ग}{ख\ घ}$।

ब्रह्मगुप्त, श्रीधर, महावीराचार्य, भास्कर द्वितीय आदि गणितज्ञों ने भिन्नों के लिए परिकर्मों से सम्बन्धित नियम दिए हैं तथा भिन्नों की विभिन्न जातियों को सरल करने की रीति भी। इस तरह भारतीय गणितज्ञों ने भिन्नों के विभिन्न पहलुओं पर विस्तार से विचार किया है जो अभी भी प्रचलित हैं।

(ङ) व्यस्त अथवा विलोम विधि : कुछ ऐसे प्रश्न होते हैं जिनमें इष्ट राशि ज्ञात करने के लिए अन्तिम दी हुई राशि से आरम्भ कर उल्टी क्रिया की जाती है। ऐसी विधि को व्यस्त या विलोम विधि या विलोम गति कहा जाता है। भारत में यह विधि अत्यंत प्राचीन काल से प्रचलित है। आर्यभट ने इस विधि की विवेचना निम्न रूप में की है:-

'गुणकारा भागहरा भागहरा ये भवन्ति गुणकारा:।
य: क्षेय: सोऽपचयोऽपचय: क्षेपश्च विपरीते॥' (आर्य० 2.28)

अर्थात् 'विलोम विधि में गुणकार भागहार हो जाते है और भागहार गुणकार, जिसे जोड़ता है वह घटाया जाता है और जिसे घटाना है, वह जोड़ा जाता है।' क्रिया अन्त से शुरू होती है तथा विपरीत क्रम में चलती है। जोड़, घटाव, गुणा, भाग, वर्ग आदि मोलिक परिकर्मों के दिए हुए रहने पर क्रमश: घटाव, जोड़, भाग, गुणा, वर्गमूल की क्रियाऐं की जाती हैं। निम्न उदाहरण से इसे स्पष्ट किया जा सकता है-कोई संख्या 2 से गुणित की जाती है, फल में 1 जोड़ा जाता है, फिर 5 से भाग दिया जाता है, 3 से गुणा किया जाता है 2 घटाया जाता है और 7 से भाग दिया जाता है तो 1 प्राप्त होता है। प्रथम संख्या क्या है?

अन्तिम संख्या 1है और अन्तिम परिकर्म भाग है। इसलिए 1 को 7 से गुणा करने पर 7 मिलता है, इसमें 2 जोड़ने पर 7+2=9; 9 में 3 से भाग देने पर 9÷3=3, इसे 5 से गुणा करने पर 3X5=15; इसमें 1 घटाने पर 15-1=14; इसे 2 से भाग दने पर 14÷2=7 जो अभीष्ट राशि है।

(च) ब्याज सम्बन्धी नियम : भारत में ब्याज लेने-देने की प्रथा अति प्राचीन है। पाणिनि की अष्टाध्यायी, कौटिल्य के अर्थशास्त्र जैसे प्राचीन ग्रंथों में इसकी चर्चा है, पर ब्याज निकालने की विधि की स्पष्ट रूप से व्याख्या आर्यभटीय से पूर्व के ग्रंथों में नहीं मिलती है। आर्यभट के बाद तो गणितज्ञों ने तत्सम्बन्धी विभिन्न व्यापक नियमों के

साथ-साथ अनेक उदाहरण भी दिए हैं। आर्यभट प्रदत्त नियम निम्नांकित है:-

'मूलफलं सफलं कालमूलगुणमर्धमूलकृतियुक्तम्।
मूलं मूलार्धोनं कालहृतं स्यात् स्वमूलफलम्।।' (आर्य० 2.25)

अर्थात् 'मूलधन के ब्याज तथा उस ब्याज पर प्राप्त ब्याज के योग को समय तथा मूलधन दोनों से गुणा करें। उस गुणनफल में मूलधन के आधे के वर्ग को जोड़ दें। इस योगफल का वर्गमूल निकालें। उस वर्गमूल में से मूलधन के आधे को घटावें और शेष को समय से भाग दें। जो लब्धि मिले वही मूलधन का ब्याज है।' यहाँ मूल, मूलधन के लिए तथा फल ब्याज के लिए प्रयोग किए गए हैं। साथ में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि मूल का फल (ब्याज) एक वर्ष अथवा एक महीना का होना चाहिए तथा फल (ब्याज) का फल (ब्याज) किसी नियत वर्ष अथवा महीनों का होना चाहिए। यदि मूलधन को म, इस पर एक वर्ष का अज्ञात ब्याज य और अज्ञात ब्याज को ब्याज पर दिए समय को स रखें तो य का स वर्षों का ब्याज $\frac{\text{स x य}^2}{\text{म}}$ होगा। फिर य+$\frac{\text{स य}^2}{\text{म}}$ को क मानें तो उपरोक्त नियम को सूत्र-रूप में इस प्रकार लिखा जा सकता है:-

$$\text{य} = \frac{\sqrt{\text{क म स} + \left(\frac{\text{म}}{2}\right)^2} - \frac{\text{म}}{2}}{\text{स}},$$

यहाँ क, म, स दिए रहने पर य का मान निकाला जा सकता है जिससे ब्याज की दर निकाली जा सकती है। इस सूत्र में य, स, म, क-ये चार राशियाँ हैं। इस नियम से यह भी संकेत मिलता है कि इन चार राशियों में से कोई भी तीन राशि ज्ञात हों, तो चौथी राशि निकाली जा सकती है। स्वभावत: एक ही नियम से ब्याज सम्बन्धी कई तरह के प्रश्नों के हल प्राप्त किए जा सकते हैं। इस नियम को एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता हैं। यदि 100 रूपए (एक महीने के लिए) ब्याज पर दिए जायें और अज्ञात ब्याज 6 महीने के लिए दिया जाय तथा मौलिक (अज्ञात ब्याज) और उस ब्याज पर ब्याज का योग 16 रूपये हो तो मूलधन पर ब्याज की दर निकालें।

यहाँ मूलधन (म)=100 रूपए, समय (स)=6 महीने तथा ब्याज+ब्याज पर 6 महीने का ब्याज (क)=16 रूपये, तो ब्याज की दर (य) निकालना है।

$$\text{सूत्र से ब्याज की दर अर्थात् य} = \frac{\sqrt{16\times100\times6+50^2}-50}{6}$$

$$= \frac{\sqrt{9600+2500}-50}{6}$$

$$= \frac{\sqrt{12100}-50}{6}$$

$$= \frac{110-50}{6}$$

$$= 10 \text{ रुपये}$$

इस तरह आर्यभट ने इस नियम को उपस्थापित कर परवर्त्ती विद्वानों के लिए इस दिशा में प्रेरणा प्रदान की है। फलस्वरूप ब्याज सम्बन्धी प्राय: सभी तरह के प्रश्नों को हल करने के नियमों की यहाँ खोज की गयी। जहाँ भारत में 5वीं शताब्दी में ही ब्याज सम्बन्धी नियमों की स्थापना की गयी तथा उसका उत्तरोत्तर विकास होता गया, वहाँ यूरोपीय देशों के अंकगणित में उसकी शुरुआत 13वीं शताब्दी में हुई।[9] इतना ही नहीं, इस नियम से यह भी ज्ञात होता है कि आर्यभट को द्विघातीय समीकरण के हल करने का साधन भी ज्ञात था जिसकी व्याख्या आगे की जायेगी।

3.4 बीजगणित : प्राचीन भारत में बीजगणित को अव्यक्त गणित या कुट्टकगणित कहा जाता था। गणित की इस शाखा में भारतीय गणितज्ञों की उपलब्धियाँ विशिष्ट हैं। आर्यभट ने भी इसमें बड़ी दक्षता प्राप्त की। बीजगणितीय संकेत के साथ-साथ उन्होंने कुछ ऐसे मौलिक सिद्धान्तों की नींव डाली जो आधुनिक काल में भी प्राय: उसी रूप में प्रचलित हैं। उनके द्वारा स्थापित बीजगणितीय विधि के कुछ उत्कृष्ट उदाहरण निम्नलिखित हैं:-

(क) तादात्म्य : उन्होंने दो बीजगणितीय तादात्म्यों की स्थापना की है जिनसे कई तरह के प्रश्नों का हल सम्भव है:-

'सम्पर्कस्य हि वर्गाद्विशोधयेदेव वर्गसम्पर्कम्।
यत्रस्य भवत्यर्धं विद्याद्गुण कार संवर्गम्।।' (आर्य० 2.23)

अर्थात् 'दो राशियों के गुणनफल को प्राप्त करने के लिए उनके योग के वर्ग में से उन राशियों के वर्ग के योग को घटाएँ तथा फल का आधा करे।' यदि क और ख दो राशियाँ हों, तो आधुनिक संकेत लिपि में इस नियम को निम्न रूप में लिखा जा सकता है:-

$$\text{क ख} = \frac{(\text{क} + \text{ख})^2 - (\text{क}^2 + \text{ख}^2)}{2}$$

इससे यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि आर्यभट को सूत्र $(\text{क}+\text{ख})^2 = \text{क}^2+\text{ख}^2+2$ क ख का ज्ञान था। यदि कई राशियाँ दी हुई हों, तो इस सूत्र का व्यापक रूप निम्न प्रकार का होगा:

$$\sum \text{क ख} = \frac{(\text{क}+\text{ख}+\text{ग}+........)^2-(\text{क}^2+\text{ख}^2+\text{ग}^2+......)}{2}$$

(2) 'द्विकृतिगुणात् संवर्गाद् द्वयन्तरवर्गेण संयुतान्मूलम्।
अन्तरयुक्तंहीनं तद्गुणकारद्वयं दलितम्॥' (आर्य० 2.24)

अर्थात् 'दो अज्ञात राशियों के मान को अलग-अलग निकालने के लिए दो के वर्ग से दो राशियों के गुणनफल को गुणित कर उनके अन्तर के वर्ग को फल में जोड़ें, प्राप्त राशि के वर्गमूल में अन्तर को जोड़ें और घटाएँ तथा फलों का आधा करें।'

यदि क और ख दो राशियाँ हैं, तो आधुनिक संकेत-लिपि में उक्त सूत्र को इस प्रकार लिखा जा सकता है:-

$$\text{क या ख} = \frac{\sqrt{4\text{कखा}+(\text{क}-\text{खा})^2} \pm (\text{क}-\text{खा})}{2}$$

$$\text{अर्थात् क} = \frac{\sqrt{4\text{कखा}+(\text{क}-\text{खा})^2} + (\text{क}-\text{खा})}{2} \text{ और}$$

$$\text{ख} = \frac{\sqrt{4\text{कखा}+(\text{क}-\text{खा})^2} - (\text{क}-\text{खा})}{2}$$

जब दो संख्याओं का गुणनफल एवं अन्तर दिए गए हैं, तो उन दो अज्ञात संख्याओं के मान इस सूत्र की सहायता से निकाले जा सकते हैं।

उदाहरण : यदि दो संख्याओं का गुणनफल 8 और अन्तर 2 हो, तो वे संख्याएँ क्या हैं ?

$$\text{सूत्र के अनुसार, क} = \frac{\sqrt{4\times8+2^2}+2}{2} = \frac{\sqrt{36}+2}{2} = \frac{8}{2} = 4$$

$$\text{ख} = \frac{\sqrt{4\times8+2^2}-2}{2} = \frac{\sqrt{36}-2}{2} = \frac{4}{2} = 2$$

(ख) श्रेढ़ी व्यवहार से सम्बन्धित सूत्र : श्रेढ़ी व्यवहार सम्बन्धी अनेक सूत्र जिनका आज के विकसित गणित में समावेश है, आर्यभट के गणित में उपलब्ध हैं। ये निम्नलिखित रूप में हैं:-

(1) समान्तर श्रेणी के अन्तिम पद, मध्य पद एवं श्रेणी का योग :

'इष्टं व्येकं दलितं सपूर्वमुत्तरगुणं समुखामध्यम्।
इष्टगुणितमिष्टधनं त्वथवाद्यन्तं पदार्थहतम्॥' (आर्य० 2.19)

अर्थात् 'इष्ट में से एक घटाकर 'चय' से गुणा कर दें तथा उसमें 'आदि' (मुख) पद जोड़ दें तो अन्त्य धन प्राप्त होता है। उस अन्त्य धन में आदि जोड़ दें और उसका आधा करें तो मध्य धन प्राप्त होता है। उस मध्यधन को इष्ट से गुणा कर दें तो सर्वधन प्राप्त होता है अथवा आद्यन्त धन को योग के पद के आधे से गुणा करें तो भी सर्व धन प्राप्त होता है।

यहाँ इष्ट = गच्छ = समान्तर श्रेढ़ी के पदों की संख्या; चय = सर्वान्तर = दो पदों का अन्तर; मुख = प्रथम या आदि पद; पूर्व = किसी पद से पहले के पदों की संख्या; सर्व धन = स०श्रेढ़ी के पदों का योग। किसी श्रेढ़ी में यदि मान लें कि आदि = आ, चय = च, मध्यधन = म, अन्त्य धन = अ, इष्टधन = इ तथा सर्वधन = स, तो उपरिलिखित सूत्र इस प्रकार लिखे जायेंगे:

$$अ = (इ-1)\ च+आ;\ म = \frac{अ+आ}{2};\ \ स = इ\ \frac{अ+आ}{2} = \frac{इ}{2}\ (अ+आ)$$

$$= \frac{इ}{2}\{(इ-1)\ च+आ+आ\} = \frac{इ}{२}\ \{\ 2\ आ+(इ-1)\ च\}$$

उदाहरण : यदि आदि पद = 5, चय = 7, गच्छ = 17, तो

अन्त्य पद = (17-1)X7+5 = 112+5= 117

$$मध्य\ पद = \frac{5+117}{2} = \frac{122}{2} = 61$$

$$सर्वधन = \frac{17}{2}[5+117] = \frac{17}{2}\times 122 = 1037$$

इन सूत्रों से किन्हीं तीन राशियों के दिए हुए रहने पर चौथी राशि निकाली जा सकती है। किसी खास पद को निकालने की विधि यहाँ नहीं दी गयी है, पर अन्त्य पद के सूत्र से कोई भी पद निकाला जा सकता है। परवर्त्ती सभी भारतीय गतिणज्ञों ने इन सूत्रों का प्रयोग किया है तथा तत्सम्बन्धी विभिन्न उदाहरण भी दिए हैं। आधुनिक युग में भी ये सूत्र इसी रूप में व्यवहार किए जाते हैं।

(2) पदों की संख्या :-

'गच्छोऽष्टोत्तरगुणिताद् द्विगुणाद्युत्तर विशेषवर्गयुतात्।
मुलं द्विगुणाद्यूनं स्वोत्तरभाजितं सरू पार्धम्॥' (आर्य० 2.20)

अर्थात् 'गच्छ प्राप्त करने के लिए (सर्व) धन को आठ गुने चय से गुणा करें तथा फल में (प्रथम) आदि पद के दूने तथा चय के अन्तर के वर्ग को जोड़ें; फिर इस फल के वर्गमूल में से आदि पद के दूने को घटाकर फल में चय से भाग दें; प्राप्त लब्धि में एक (रूप) जोड़कर फल का आधा करें।' आधुनिक संकेत-लिपि में इस सूत्र को इस प्रकार लिखा जा सकता है:-

$$इ = \frac{1}{2}\left[\frac{\sqrt{8स\quad च+(2आ-च)^2}-2आ}{च}+1\right]$$

आज भी इस सूत्र का प्रयोग इसी रूप में होता है। यहाँ 'रूप' शब्द संख्या 1 के लिए व्यवहार

हुआ है। प्राचीन भारत में संख्याओं के लिए शब्दों का प्रयोग किया जाता था। यहाँ आर्यभट ने भी इस पद्धति को अपनाया है।

उदाहरण : यदि आदि पद = 5, चय = 7 तथा सर्वधन = 1037 तो समान्तर पदों की संख्या अथवा

$$इ = \frac{1}{2}\left[\frac{\sqrt{8\times1037\times7+(10-7)^2}-2\times5}{7}+1\right]$$

$$= \frac{1}{2}\left[\frac{\sqrt{58072+9}-10}{7}+1\right]$$

$$= \frac{1}{2}\left[\frac{241-10}{7}+1\right]$$

$$= \frac{1}{2}\left[\frac{231+7}{7}\right]$$

$$= \frac{1}{2}\times\frac{238}{7}$$

$$= 17$$

(3) चितिघन सम्बन्धी सूत्र :-

'एकोत्तराद्युपचितेर्गच्छाद्येकोत्तर त्रिसं वर्गः।
षड्भक्तस्य चितिधनस्सैक पदघनो विमूलो वा॥' (आर्य० 2.21)

अर्थात् 'जिसका आदि पद एक है और चय भी एक ही है, ऐसी उपचिति के चितिघन का मान, पद, पदधन एक तथा पदधन दो, इन तीन संख्याओं के परस्पर गुणनफल को छः से विभाजित करने से प्राप्त होता है अथवा पदधन एक के घन और उस धन के घनमूल के अन्तर को भी छः से विभाजित करने से प्राप्त होता है।'

यदि श्रेढ़ी 1, 1+2, 1+2+3, ... के पदों की संख्या 'इ' हो, तो

$$चितिघन = \frac{इ(इ+1)(इ+2)}{6} \text{ अथवा } \frac{(इ+1)^3-(इ+1)}{6}$$

1+2+ ....+ इ पदों तक श्रेढ़ी को संकलित या चिति कहा जाता है तथा ऐसे पदों के योग को चितिघन।

अर्थात् चितिघन = 1+(1+2)+(1+2+3)+ ....+ (1+2+3.....+इ)

परवर्त्ती गणितज्ञों ने चिति को संकलित तथा चितिघन को संकलितैक्य कहा है। आर्यभट ने 'इ' प्राकृतिक संख्याओं के योग अथवा चिति के योग का सूत्र स्पष्ट रूप से नहीं दिया

है, पर सर्वधन के सूत्र से यह निकाला जा सकता है। यहाँ आ = च = 1,

$$\text{इसलिए} \quad 1+2+3+ \ldots\ldots\ldots \text{इ} = \frac{\text{इ}(\text{इ}+1)}{2}$$

साथ ही इस सूत्र का प्रयोग आगे की आर्या में उन्होंने किया भी है। अतः यह कहना उचित नहीं होगा कि उन्हें चिति का योग ज्ञात नहीं था। आर्यभट ने उदाहरण नहीं दिया है, पर भास्कराचार्य प्रथम ने इस आर्या की व्याख्या करने के क्रम में निम्नलिखित उदाहरण दिया है: त्रिभुजाकार चितिघनों में क्रमशः 5, 8 और 14 स्तर हैं। उनमें गुलिकाओं की संख्या क्या है?

पाँच स्तरों के ढ़ेर में गुलिकाओं की संख्या

$$= 1+(1+2)+ \ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots (1+2+3+4+5)$$

$$= \frac{5\times6\times7}{6} = 35$$

इसी प्रकार 8 स्तरों में गुलिकाओं की संख्या $= \frac{8\times9\times10}{6} = 120$ और 14 स्तरों में गुलिकाओं की संख्या $= \frac{14\times15\times16}{6} = 560$

(4) वर्ग चितिघन एवं घन चितिघन सम्बन्धी सूत्र : प्राकृतिक संख्याओं के वर्गों एवं उनके घनों के योग को आर्यभट ने क्रमशः वर्ग चितिघन तथा घन चितिघन कहा है जिन्हे ब्रह्मगुप्त, भास्कराचार्य आदि ने वर्गैक्य एवं घनैक्य तथा श्रीधर ने वर्ग संकलित एवं घन संकलित कहा है। इस दृष्टिकोण से भी आर्यभट की देन महत्त्वूपर्ण है क्योंकि उन्होंने हीसर्व प्रथम उपरोक्त सूत्रों की खोज की। ये सूत्र आज भी सम्पूर्ण विश्व में इसी रूप में प्रचलित हैं जो निम्नलिखित हैं:-

'सैकसगच्छपदानां क्रमात् त्रिसं वर्गितस्य षष्ठोंऽशः।
वर्गचितिघनस्य भवेच्चितिवर्गो घनचितिघनश्च।।' (आर्य० 2.22)

अर्थात् 'पदों की संख्या, यह संख्या धन एक तथा इस दूसरी संख्या तथा पदों की संख्या के योग अर्थात् सैकद्विगुणपद-इन तीनों के गुणनफल के छठे भाग के तुल्य वर्ग चितिघन का मान होता है एवं चिति के वर्ग के तुल्य घन चितिघन होता है।'

आधुनिक संकेत-लिपि में यदि पदों की संख्या इ हो तो यह सूत्र निम्नांकित रूप में लिखा जा सकता है:

$$1^2 + 2^2 + \ldots\ldots\ldots + \text{इ}^2 = \frac{\text{इ}(\text{इ}+1)(2\text{इ}+1)}{6} \quad \text{तथा} \quad 1^3 + 2^3 + \ldots\ldots + \text{इ}^3 = \frac{\text{इ}(\text{इ}+1)^2}{2}$$

भास्कर प्रथम ने इस आर्या की व्याख्या करते समय कई उदाहरण दिए हैं जिनमें से दो

नीचे दिए जाते हैं:-

(1) तीन वर्ग चितिघनों के स्तरों की संख्याएँ 7, 8, तथा 17 हैं। उनमें ईंटों की संख्या क्या है?

$$\text{प्रथम ढ़ेर से ईंटों की संख्या} = 1^2 + 2^2 + \dots\dots\dots + 7^2 = \frac{7\times8\times15}{6} = 140;$$

इसी तरह 8 स्तरों में 204 और 17 स्तरों में ईंटों की संख्या 1785 है।

(2) तीन घन चितिघनों में स्तरों की संख्याएँ 5, 4 तथा 9 हैं, तो उनमें ईंटों की संख्या क्या है?

$$\text{प्रथम ढ़ेर में ईंटों की संख्या} = 1^3 + 2^3 + \dots\dots\dots + 5^3 = \frac{(5\times6)^2}{2} = 225$$

; इसी तरह 4 स्तरों में 100 और 9 स्तरों में 2025 है।

इस तरह समान्तर श्रेढ़ी से सम्बन्धित प्राय: सभी उपयोगी सूत्रों की आर्यभट ने स्थापना की जो अभी भी प्रयोग किए जा रहे हैं। विशेष कर प्राकृतिक संख्याओं के वर्गों एवं घनों के योग सम्बन्धी सूत्र महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि अन्य देशों में इन सूत्रों का प्रयोग बहुत बाद में शुरू हुआ-यूनान में छठी शताब्दी में तथा अरब एवं चीन में क्रमश: 11वीं तथा 13वीं शताब्दी में।[10] आर्यभटीय में गुणोत्तर एवं हरात्मक श्रेढ़ी सम्बन्धी सूत्रों की विवेचना नहीं पायी जाती है, पर परवर्त्ती भारतीय गणितज्ञों ने इन से सम्बन्धित विभिन्न सूत्रों की भी स्थापना की है।

(ग) समीकरणों के साधन : समीकरणों के साधन की समस्या बहुत पुरानी है। अन्य देशों की तरह भारत में भी प्राचीन काल में बीजगणित का मुख्य उद्देश्य विभिन्न प्रकार के समीकरणों का हल निकालना ही था। शुल्व-सूत्र (700 ई०पू०), स्थानांग सूत्र (324 ई०पू०) आदि प्राचीन ग्रंथों में तत्सम्बन्धी चर्चा पायी जाती है। वक्षाली गणित में भी हल करने की विभिन्न बीजगणितीय विधियों का समावेश है। आर्यभट ने विभिन्न प्रकार के समीकरणों के हल करने के साधन सम्बन्धी सिद्धान्तों का अन्वेषण किया है। उनके कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त निम्नांकित हैं:-

(1) एक वर्ण समीकरण :

'गुलिकान्तरेण विभजेद् द्वयो: पुरुषयोस्तु रूपकविशेषम्।
लब्धं गुलिकामूल्यं यद्यर्थकृतं भवति तुल्यम्।।' (आर्य० 2.30)

अर्थात् 'यदि दो पुरुषों के कुल धन बराबर हों तो उनके रूपयों के अन्तर को वस्तुओं के अन्तर से विभाजित करने पर प्रत्येक वस्तु का मूल्य प्राप्त होता है।'

मान लें कि बराबर धनवाले दो व्यक्तियों के पास क्रमश: क और ख रूपए हैं तथा ग और घ वस्तुएँ हैं; फिर मान लें कि प्रत्येक चीज की कीमत च है। चूँकि दोनों व्यक्तियों

के धन बराबर हैं,
इसलिए क+ग च = ख+घ च
अर्थात् क-ख = घ च-ग च = च (घ-ग)।

$$च = \frac{क-ख}{घ-ग}$$, यही हर एक वस्तु की कीमत है अर्थात् अज्ञात राशि का मान है। उदाहरण : दो वणिकों के पास बराबर धन है। एक के पास 100 रूपए एवं 6 गाय हैं तथा दूसरे के पास 60 रूपएं एवं 8 गाय हैं, तो एक गाय का मूल्य क्या होगा?

सूत्र के अनुसार एक गाय का मूल्य $= \frac{100-60}{8-6} = \frac{40}{2} = 20$ रुपये।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि आर्यभट ने अज्ञात राशि के लिए गुलिका शब्द का प्रयोग किया है। समीकरण में अज्ञात राशि के लिए संकेत का निर्धारण बहुत ही आवश्यक है-इस परम्परा का श्रीगणेश आर्यभट ने ही किया है जिसका अनुसरण अनुवर्त्ती गणितज्ञों ने किया। ब्रह्मगुप्त ने (ब्रा०स्फु०सि० 18.24, 51 में) इसके लिए वर्णमाला के वर्णों का प्रयोग किया है तथा अन्य गणितज्ञों ने वर्णों अथवा विभिन्न रंगों-कालक, पीलक, नीलक आदि का व्यवहार किया है। किसी-किसी ने रंगों के आरम्भिक वर्णो का भी प्रयोग किया है। इसके लिए सबसे महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द है 'यावत तावत' जिसका पहला वर्ण 'या' भी व्यवहृत होता है। इसे वाञ्छा या यादृच्छा भी कहा जाता है।[11]

(2) युगपद एक घातीय समीकरण (अनेक वर्णों से सम्बन्धित):

'राश्यून' राश्यून' गच्छधन' पिण्डित' पृथक्त्वेन।
व्येकेन पदेन हृत' सर्वधन' तद्भवत्येव ॥' (आर्य० 2.29)

अर्थात् 'यदि एक-एक राशि हीन-गच्छ घन ज्ञात हो तो उनको अलग-अलग लिखकर जोड़ें तथा योग को पदों को संख्या से एक कम संख्या से विभाजित करें तो सब राशियों' का योग प्राप्त होता है।

मान लें कि अज्ञात राशि की संख्या इ है। ये संख्याएँ $च_1$, $च_2$ ....$च_इ$ हैं और इनका योग $च_1+च_2+$ ....$+च_इ=स$। फिर मान लें कि $स-च_1 = स_1$, $स-च_2 = स_2$ . ...$स-च_इ = स_इ$। इस तरह उपरोक्त सूत्र को आधुनिक संकेत-लिपि में निम्न रूप में लिखा जा सकता है:

$$स = \frac{स_1+स_2+........+स_इ}{इ-1}$$

यदि स = क+ख+ग, जहाँ क, ख, ग तीन राशियाँ हैं, तो

$स-क = ख+ग = स_1$
$स-ख = क+ग = स_2$

$$स-ग = क+ख = स_3$$

जोड़ने पर $3स-(क+ख+ग) = स_1+स_2+स_3$

अर्थात् $3स-स = स_1+स_2+स_3$

$$\therefore \quad स = \frac{स_1+स_2+स_3}{2}$$

इस विधि के निर्माण में भी आर्यभट ने अपनी मौलिकता दिखलाई है। महावीराचार्य (ग०सा०सं०, 6.159-62) एवं अन्य भारतीय गणितज्ञों ने इसी विधि का अनुकरण किया है, पर उन लोगों ने नियम को स्पष्ट करने के लिए उदाहरण भी दिए हैं।

(3) द्विघातीय समीकरण : आर्यभट ने स्पष्ट रूप से द्विघातीय समीकरण के हल की विधि नहीं दी है, पर उनके दिए हुए दो सूत्रों से ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि उन्हें इसकी भी जानकारी थी। समान्तर श्रेढ़ी के पदों की संख्या ज्ञात करने के लिए उनका सूत्र (आर्य०2.20) निम्नलिखित है:-

$$इ = \frac{1}{2}\left[\frac{\sqrt{8स \quad च+(2आ-च)^2}}{च}+1\right]$$

$$= \frac{\sqrt{8स \quad च+(2आ-च)^2}-(2आ-च)}{2च} \quad \ldots\ldots\ldots\ldots(1)$$

इ का यह मान निम्नलिखित द्विघातीय समीकरण के दो मानों में से एक मान है। स० श्रेढ़ी के योग के लिए आर्यभट द्वारा दिया गया नियम (आ० 2.19) है :-

$$स = \frac{इ}{2}[(इ-1)च+2आ]$$

अर्थात् $2स = 2आ\ इ+इ^2च-इ\ च$

अर्थात् $इ^2च+(2आ-च)इ-2स = 0$

$$\therefore \quad इ = \frac{-(2आ-च)\pm\sqrt{8स \quad च+(2आ-च)^2}}{2च} \quad \ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots(2)$$

इसके सिर्फ धनात्मक मान लेने से सूत्र (1) प्राप्त होता है जिसका व्यवहार आर्यभट ने किया है। फिर उन्होंने ब्याज निकालने के लिए सूत्र (आ० 2.25) इस प्रकार दिया है:-

$$य = \frac{\sqrt{क \quad म \quad स+(\frac{म}{2})^2}-\frac{म}{2}}{स} \quad \ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots (3)$$

हमें ज्ञात है कि $क = य + \frac{स\ य^2}{म}$ (क्योंकि य का स वर्षों में ब्याज $= \frac{स\ य^2}{म}$)

अर्थात् $क\ म = य\ म + स\ य^2$

इसलिए $स\ य^2 + य\ म - क\ म = 0$

जिससे $य = \frac{-म \pm \sqrt{म^2 + 4स\ क\ म}}{2स}$

$$= \frac{-\frac{म}{2} + \sqrt{स\ क\ म + (\frac{म}{2})^2}}{स} \quad ....(4)$$

इसके धनात्मक मान लेने से $य = \frac{\sqrt{स\ क\ म + (\frac{म}{2})^2} - \frac{म}{2}}{स}$

उपरिलिखित दोनों सूत्रों से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि आर्यभट को द्विघातीय समीकरण को हल करने की विधि ज्ञात थी। यद्यपि श्रीधर ने स्पष्ट रूप से इस विधि की व्याख्या की है[12], पर आर्यभट ने ही परवर्त्ती गणितज्ञों को इन सूत्रों के माध्यम से द्विघातीय समीकरण के साधन की विधि निकालने की प्रेरणा दी है।

(4) युगपद द्विघातीय समीकरण : फिर आर्यभट द्वारा दिए गए दो बीजगणितीय तादात्म्यों से यह ज्ञात है कि उन्हें युगपद द्विघातीय समीकरणों के साधन की विधि भी ज्ञात थी।

आ०2.24 के अनुसार $क\ या\ ख = \frac{\sqrt{4क\ ख + (क-ख)^2} \pm (क-ख)}{2}$ .....(1)

यदि $क - ख = अ$ तथा $क^2 + ख^2 = ब$, तो

$$क = \frac{\sqrt{4ब + अ^2} + अ}{2} \text{ और } ख = \frac{\sqrt{4ब + अ^2} - अ}{2}$$

फिर दूसरे तादात्म्य से $\frac{(क+ख)^2 - (क^2 + ख^2)}{2} = क\ ख$ ....(2)

अगर $क + ख = अ$ तथा $कख = ब$, तो

$$क\ ख = \frac{अ^2 - ब}{2} \quad ....(3)$$

फिर $(क-ख)^2 = (क+ख)^2 - 4 क ख$

इसलिए $$क-ख = \pm\sqrt{(क+ख)^2 - 4कख} = \pm\sqrt{अ^2 - 4\frac{अ^2-ब}{2}}$$

$$= \pm\sqrt{2ब-अ^2} \quad \text{................} (4)$$

(3)और (4) से कख और क-ख के मान (1) में रखने पर

$$क = \frac{\sqrt{4\frac{अ^2-ब}{2}+2ब-अ^2} + \sqrt{2ब-अ^2}}{2} = \frac{अ+\sqrt{2ब-अ^2}}{2}$$

और $$ख = \frac{\sqrt{4\frac{अ^2-ब}{2}+2ब-अ^2} - \sqrt{2ब-अ^2}}{2} = \frac{अ-\sqrt{2ब-अ^2}}{2}$$

इस तरह युगपद द्विघातीय समीकरण के हल करने से अज्ञात राशियों के मान निकाले जा सकते हैं। कदाचित इसी उद्देश्य से आर्यभट ने इन दो तादात्म्यों के सूत्र दिए हों।

(5) अनिर्णित प्रथम घातीय समीकरण (कुट्टक) : यह अब निर्विवाद रूप से प्रमाणित हो चुका है कि अनिर्णित समीकरणें का हल समस्त संसार में सबसे पहले निकालने वाले भारतवासी ही हैं जिनमें आर्यभट अग्रगण्य हैं। इस विधि के आविष्कार का श्रेय आर्यभट को ही है। बीजगणित के क्षेत्र में यह उनकी महत्तम उपलब्धि है तथा उनकी विलक्षण बुद्धि का प्रतीक है। नियम अत्यन्त संक्षिप्त है और इसलिए आसानी से ग्राह्य नहीं है, पर इसके द्वारा उन्होंने दिशा-निर्देश किया तथा इस समस्या कोहल करने की प्रेरणा दी। फलस्वरूप अनुवर्त्ती भारतीय गणितज्ञों ने इस क्षेत्र में आशातीत सफलता प्राप्त की तथा विश्व के लिए अभूतपूर्व देन दी। भास्कराचार्य ने इस प्रकरण को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया। सार्विक समीकरण की व्यापक विधियाँ देकर समस्त सम्भव हल निकालने का तो उन्होंने प्रयास किया ही, प्रतिभापूर्ण एवं मौलिक चक्रवाल विधि का विवेचन कर बीजगणित के क्षेत्र में विशिष्ट स्थान भी प्राप्त किया।[13]

प्रथम घातीय अनिर्णित समीकरण का रूप है अ क $\pm$ ब ख = $\pm$ स जहाँ अ और ब रूढ़ि संख्याएँ (Prime Numbers) हैं। इसका साधन गणितज्ञों के लिए एक बड़ी समस्या के रूप में सदैव बना रहा है जिसे आधुनिक युग में वितत भिन्न के द्वारा हल किया जाता है। आधुनिक युग में फ्रांसीसी गणितज्ञ बैचेत डी मैजेरिएक(17वीं शताब्दी) इसके साधन के आविष्कर्त्ता माने जाते हैं जहाँ आर्यभट ने इनमे 1200 वर्ष पूर्व ही इसकी खोज की। यह सत्य है कि उनके द्वारा दिए गए सूत्र की भाषा दुरूह है, पर विभिन्न टीकाकारों

की व्याख्या के आधार पर इसे आसानी से समझा जा सकता है। नियम निम्नलिखित दो आर्याओं में निबद्ध है :-

'अधिकाग्रभागहारं छिन्द्यादूनाग्र भागहारेण।
शेषपरस्परभक्तं मतिगुणमग्रान्तरे क्षिप्तम्।।' (आर्य० 2.32)
'अधउपरिगुणितमन्त्ययुगूना ग्रच्देद भाजिते शेषम्।
अधिकाग्रच्छेदगुणं द्विच्छेदाग्रमधिकाग्रयुतम्।।' (आर्य० 2.33)

अर्थात् 'अधिक शेषवाले भाजक को कम शेषवाले भाजक से भाग देना चाहिए। फिर शेषों को भी परस्पर तब तक विभाजित करना चाहिए जब तक शेषों से प्राप्त लब्धियों की सम संख्या प्राप्त न हो जाय। फिर अन्तिम शेष को किसी ऐसी स्वकल्पित राशि से गुणा करके तथा शेषों के अन्तर को जोड़कर फल में अन्तिम भाजक से भाग देना चाहिए कि फल भाजक से पूर्णतः विभाजित हो जाय। फिर लब्धियों, स्वकल्पित संख्या (जिसे मति कहते हैं) तथा मतिगुणित राशि में अग्रान्तर जोड़ने से प्राप्तफल से मिली लब्धि को ऊपर नीचे एक वल्ली में रखें। वल्ली में उपान्त्य को ऊपरवाली राशि से गुणा कर अन्तिम राशि को जोड़कर उपान्त्य को ऊपर रखें और अन्त्य (अन्तिम राशि को) मिटा दें। यह तब तक करें जब तक केवल दो राशियाँ रह जायँ। फिर ऊपर की संख्या को कम शेषवाले भाजक से विभाजित करें तथा शेष में अधिकाग्र भाजक से गुणा करके अधिकाग्र को जोड़ दें, तो इष्ट राशि प्राप्त होगी।'

इस विधि को एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है; 'वह कौन-सी संख्या है जिसमें 29 एवं 45 से अलग-अलग भाग दें, तो क्रमशः 4 एवं 7 शेष रहते हैं?'

यहाँ 45 अधिकाग्र है और 29 ऊनाग्र। यदि इष्ट संख्या स हो जिसे 29 एवं 45 से भाग देने पर लब्धियाँ क्रमशः य और र हों, तो स = 29 य+4 = 45 र+7 हल करने की क्रियाएँ निम्न रूपों में की जा सकती हैं:-

क्रिया (1) 29) 45 (1
29
———
16) 29 (1
16
———
13) 16 (1
13
———
3

क्रिया (2)

```
29) 45 (1
    29
   ----
    16) 29 (1
        16
       ----
        13) 16 (1
            13
           ----
             3) 13 (4
                12
               ----
                 1) 3 (3
                    3
                   ----
                    x
```

क्रिया (1) में प्रथम लब्धि को छोड़कर लब्धियों की संख्या 2 है जो सम है। अन्तिम शेष 3 है और उससे पूर्व का शेष 13 है तथा दिए हुए दो शेषों का अन्तर 7-4 = 3। अत: हमें ऐसी पूर्ण संख्या लेनी चाहिए जिसको अन्तिम शेष से गुणा कर 3 जोड़ दें, तो 13 से कट जाए। मान लिया कि वह ऐच्छिक राशि 12 है क्योंकि $\frac{3\times12+3}{13} = 3$। इसलिए वल्ली होगी

1

1

12

3

अब 12×1+3 = 15। इसे 1 से गुणा कर 12 जोड़ने पर 27 मिलता है। यही अन्तिम संख्या है जिसे 29 से भाग देना चाहिए। शेष 27 है जिसे 45 से गुणा करना चाहिए तथा बड़ा शेष 7 इस गुणनफल में जोड़ देना चाहिए। अर्थात् 45×27+7 = 1222 । यही अभीष्ट संख्या है।

यदि भाग की क्रिया को तब तक करें जब तक शेष शून्य न हो जाय, तो भी फल वही होगा। क्रिया (2) में ऐसा ही किया गया है। प्रथम लब्धि को छोड़कर लब्धियों की संख्या 4 है। जो पुन:सम है। अन्तिम शेष 0 है तथा उससे पूर्व का शेष 1 है तथा दोनों

शेषों का अन्तर 7-4 = 3। इस तरह 2 एक ऐसी ऐच्छिक पूर्ण संख्या होगी कि $\frac{0 \times 2+3}{1}$ = 3। तब वल्ली ऐसी होगी

1
1
4
3
2
3

यहाँ 3 को 2 से गुणा कर 3 जोड़ने पर 3×2+3 = 9 मिलता है। इसे 4 से गुणा कर 2 जोड़ने पर 38 मिलता है। फिर 38 को 1 से गुणा कर 9 जोड़ने पर (चूँकि 38 के नीचे 9 ही है) हमें 47 मिलता है और अन्त में 47 को 1 से गुणा कर 38 जोड़ने पर 85 मिलता है। यही अन्तिम संख्या है जिसे 29 से भाग देने पर 27 शेष बचता है। इसे 45 से गुणाकर 7 जोड़ने पर 45×27+7 = 1222 होता है-यही अभीष्ट संख्या है।

इसी आधार पर प्रथमघातीय युगपद अनिर्णित समीकरणों का हल भी निकाला जा सकता है। उदाहरणार्थ वह कौन सी संख्या है जिसे 8, 9, 7 से भाग देने पर क्रमशः 5, 4 और 1 शेष बचते हैं?

यदि इष्ट संख्या स हो तथा 8, 9, 7 से भाग देने पर क्रमशः लब्धियाँ य, र और ल हों, तो

स = 8 य+5 = 9 र+4 = 7 ल+1

पहले 8 य+5 = 9 र+4 समीकरणें पर ही विचार करें। उपरोक्त विधि से क्रिया करने पर स का कम से कम मान 13 होगा। नियम के अनुसार संख्या स को 8×9 से भाग देने पर शेष 13 ही होगा और इसलिए स = 72व+13 जहाँ व ऐच्छिक पूर्ण संख्या है। अब फिर 72व+13 = 7 ल+1। इन दो समीकरणों से उपरोक्त क्रिया करने पर स का कम से कम मान 85 होगा।

इसी तरह प्रथम घातीय युगपद अनिर्णित समीकरण को और व्यापक बनाया जा सकता है जिसे इसी विधि से हल किया जा सकता है। आर्यभट ने सिद्धान्त स्थापित किया है, पर इनके ग्रंथ में तत्सम्बन्धी उदाहरण का अभाव है। सम्भावना है कि ज्योतिष सम्बन्धी ऐसे प्रश्नों को हल करने के उद्देश्य से ही उन्होंने इस विधि की खोज की हो। इस तथ्य की पुष्टि होती है भास्कर प्रथम रचित आर्यभटीय की टीका आर्यभटीय-भाष्य से जहाँ भगण, अहर्गण, नाडिकाएँ, काल आदि सम्बन्धी अनेक प्रश्नों को हल किया गया है। आर्यभटीय में दिए गए इस महत्त्वपूर्ण सूत्र का विश्लेषण आधुनिक संकेत लिपि में यहाँ सम्भव नहीं है-इसे अन्यत्र दिया गया है।[14]

जी०आर०केय तथा डी०ई०स्मिथ जैसे कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने आर्यभट की इस विधि की मौलिकता में कुछ संदेह व्यक्त किया है, पर अब यह प्रमाणित हो चुका है कि इसमें यूनानी अथवा चीनी प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता; आर्यभट ने स्वतंत्र रूप से इसका अन्वेषण किया है।[15] वास्तविकता यही है कि बीज गणित में आर्यभट की यह अति मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण देन है। इस सिद्धान्त की खोज से प्रेरणा प्राप्त कर परवर्त्ती भारतीय गणितज्ञों ने विभिन्न प्रकार के कुट्टकों के हल के साधन की विस्तार से व्याख्या की है, फलस्वरूप इस विषय में वे विश्व में अग्रगण्य रहे।

3.5 ज्यामिति एवं क्षेत्रमिति : यज्ञ-वेदियों की चर्चा ऋग्वेद (3000 ई०पू०), तैत्तिरीय संहिता, शतपथ ब्रह्मण आदि प्राचीन ग्रंथों में पायी जाती है तथा शुल्व-सूत्रों (800 ई०पू०) में तो विभिन्न प्रकार की वेदियों के निर्माण सम्बन्धी सूत्र तथा ज्यामितीय नियम भी प्रस्तुत किए गए हैं। शुल्च का अर्थ ही है माप अथवा माप की क्रिया जिससे माप के यंत्र अथवा माप की इकाई आदि का जन्म हुआ। इस तरह शुल्व का अर्थ रस्सी या रज्जु है। यही कारण है कि प्राचीन भारत में ज्यामिति को शुल्व-विज्ञान तथा इस सिद्धान्त के ज्ञाता को शुल्व-विद् कहा जाने लगा।[16] शुल्व-सूत्रों में वृत्ताकार, वर्गाकार, आयताकार आदि भिन्न-भिन्न आकार की वेदियों की चर्चा है। क्षेत्रफल एवं घनफल निकालने सम्बन्धी सूत्र, वर्ग को वृत्त में और वृत्त को वर्ग में बदलने के सिद्धान्त जैसे कुछ ज्यामितीय सिद्धान्त भी उपलब्ध हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जिसे आज हम पिथागोरस का प्रमेय कहते हैं उसका ज्ञान शुल्व-सूत्रों के लखकों को सैकड़ों वर्ष पूर्व ही हो गया था। बौधायन (1.48), आपस्तम्ब (1.4) एवं कात्यायन (2.11) शुल्व-सूत्रों में तो स्पष्ट रूप से उसका न्यास दिया गया है तथा उसकी ज्यामितीय उत्पत्ति भी दी गयी है। आयत के विकर्ण पर बने वर्ग का क्षेत्रफल उसकी भुजाओं पर बने वर्गों के क्षेत्रफल के योग के बराबर होता है-इसी रूप में उस प्रमेय पर विचार किया गया है। इन तथ्यों से यह अब स्वीकार किया जाता है, कि ज्यामिति का श्रीगणेश भारत में शुल्व-काल से हो गया था। इसके बाद इसमें उत्तरोत्तर विकास होता गया, पर बीजगणित में जिस तरह भारतीय विद्वानों ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया, उस तरह ज्यामिति में नहीं। जो भी हो, यहाँ के गणितज्ञों ने त्रिभुज, चतुर्भुज, वृत्त, ठोस आदि विभिन्न ज्यामितीय आकृतियों से सम्बन्धित सिद्धान्तों तथा उनके साधन की विधियों की अपने-अपने ग्रंथों में विवेचना की है। आर्यभट ने भी आर्यभटीय में कुछ ज्यामितीय सिद्धान्तों तथा क्षेत्रमिति सम्बन्धी सूत्रों को समविष्ट किया है, जो निम्नलिखित हैं:-

(क) वर्ग एवं घन : इन दो ज्यामितीय आकृतियों की परिभाषा तथा इनके क्षेत्रफल एवं घनफल सम्बन्धी सूत्रों को एक ही आर्या में समाहित किया गया है:

'वर्ग: समचतुरश्रव: फलञ्च सदृशद्वयस्य संवर्ग:।
सदृशत्रय संवर्गो घनस्तथा द्वादशाश्रि: स्यात्॥' (आर्य० 2.3)

अर्थात् 'जिस क्षेत्र की चारों भुजाएँ बराबर हों तथा चारो कोण परस्पर बराबर हों, उसे समचतुरस्र कहते हैं-इस क्षेत्र विशेष को वर्ग कहते हैं। इसके क्षेत्रफल को तथा दो सदृश संख्याओं के गुणनफल को वर्ग कहते हैं। तीन सदृश संख्याओं के गुणनफल को घन कहते हैं। बारह किनारे वाला ठोस जिसके सब कोण बराबर हों घन कहलाता है तथा उसका आयतन उसके तीन किनारों के गुणनफल के बराबर होता है।' इससे यह भी ज्ञात होता है कि वर्ग के क्षेत्रफल की इकाई वर्ग है तथा घन के आयतन की इकाई घन। आर्यभट ने ही सर्वप्रथम वर्ग एवं घन की ज्यामितिय परिभाषाएँ दी हैं। परवर्त्ती गणितज्ञों ने संख्याओं के वर्ग एवं घन निकालने की विधियों की विस्तृत रूप से चर्चा की है।

(ख) विभिन्न समतल आकृतियों की रचना : इसके लिए निम्नलिखित विधि दी गयी है:-

'वृत्तं भ्रमेण साध्यं त्रिभुजञ्च चतुर्भुजञ्च कर्णाभ्याम्।
साध्या जलेन समभूरधऊर्ध्वं लम्बकेनैव॥' (आर्य० 2.13)

अर्थात् 'कर्कट यंत्र को घुमाकर वृत्त बनता है। कर्णों से त्रिभुज तथा चतुर्भुज बनते हैं। जल की सहायता से धरातल अथवा समभूमि का ज्ञान होता है और लम्बक की सहायता से ऊर्ध्व दिशा तथा अधोदिशा की जानकारी होती है।'

इससे इस बात की जानकारी मिलती है कि आर्यभट के समय कर्कट यंत्र का प्रयोग शुरु हो गया था। इसके जोड़ों में से एक को निश्चित कर दूसरे को घुमाने से एक वृत्त बनता है। जितनी दूरी इन जोड़ों के बीच होगी उसी के अनुसार वृत्त बनेगा और इस तरह अनेक वृत्त बनाए जा सकते हैं। त्रिभुज एवं चतुर्भुज की रचना के लिए कर्ण को आधार माना गया है, पर त्रिभुज की रचना के लिए दो भुजाओं तथा चतुर्भुज के लिए चार भुजाओं का ज्ञान आवश्यक है। सिर्फ कर्ण के दिए रहने से अनेक त्रिभुज तथा अनेक चतुर्भुज बन सकते हैं। फिर समतलभूमि की जाँच के लिए पानी का व्यवहार करना चाहिए तथा दीवाल एवं भवन-निर्माण के लिए लम्बक द्वारा खड़ी रेखा बनानी चाहिए। शंकु एवं छाया सम्बन्धी प्रश्नों में भूमि को समतल बनाने, भवन-निर्माण जैसे अन्य व्यावहारिक कार्यों में इस विधि का प्रयोग किया जा सकता है।

(ग) कर्ण के वर्ग सम्बन्धी प्रमेय :

'यश्चैव भुजावर्गः कोटीवर्गश्च कर्ण वर्गः सः।' (आर्य० 2.16½)

अर्थात् 'भुजा और कोटि के वर्गों के योग के तुल्य कर्ण का वर्ग होता है। यह प्रमेय समकोण त्रिभुज, वर्ग एवं आयत के लिए भी सत्य है। कोटि एवं भुजा समकोण त्रिभुज की ऐसी दो भुजाएँ हैं जो एक दूसरे पर लम्ब हैं। यदि क ख ग एक समकोण त्रिभुज है, तो सूत्रानुसार
$(कख)^2+(खग)^2 = (कग)^2$ जिससे $(कख)^2 = (कग)^2-(खग)^2$
या $(खग)^2 = (कग)^2-(कख)^2$।
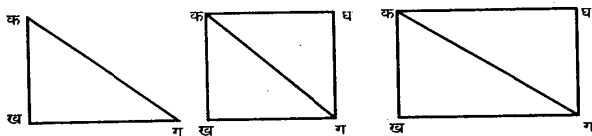
वर्ग क ख ग घ तथा आयात क ख ग घ में कई समकोण त्रिभुज बन सकते हैं जिनमें से हर एक के लिए यह नियम सत्य है। आज कल इसे 'पिथागोरस का प्रमेय' कहा जाता है, पर भारत में इससे बहुत पूर्व शुल्व-सूत्रों (800 ई०पू०) में इस प्रमेय का उल्लेख मिलता है। इसलिए इसे 'शुल्व-प्रमेय' कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

इस प्रमेय का प्रयोग : गोल की त्रिज्या सम्बन्धी सूत्र: आर्यभट ने इसका व्यवहार शंकु एवं छाया से सम्बन्धित प्रश्न में गोल की त्रिज्या निकालने के लिए इस प्रकार किया है:-

'शङ्कोः प्रमाणवर्गं छायावर्गेण संयुतं कृत्वा।
यत्तस्य वर्गमूलं विष्कम्भार्धं स्ववृत्तस्य॥' (आर्य० 2.14)

अर्थात् 'शंकु की नाप के वर्ग और छायाकी नाप के वर्ग के योग का वर्गमूल स्ववृत्त का अर्द्धव्यास होता है।' स्ववृत्त वह वृत्त है जो ऊर्ध्वाधर तल में खींचा जाता है, जिसका केन्द्र छाया का अन्तिम बिन्दु है और जो शंकु के शीर्ष को छूता खींचा जाताहै। भारतीय ज्योतिष में इस वृत्त का बड़ा महत्त्व है तथा इसकी सहायता से ग्रहण, नतांश, कर्ण वृत्ताग्रा (कर्णग्रा) आदि से सम्बन्धित ज्योतिष के विभिन्न प्रश्नों को हल किया जाता है[17]। प्राचीन भारत में समय का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करनेके लिए यह (शंकु) एक यंत्र के रूप में प्रयोग किया जाता था। इसकी माप प्राय: 12 अंगुल (3/4 फीट) की जाती है। समतल भूमि पर रखकर सूर्य की किरण में इसकी छाया से समय का परिज्ञान होता था। इसकी आकृति निम्न रूप में होती है :-

क च शंकु है। घ च उसकी छाया है तथा क घ छाया-कर्ण है। उपरोक्त नियम के अनुसार
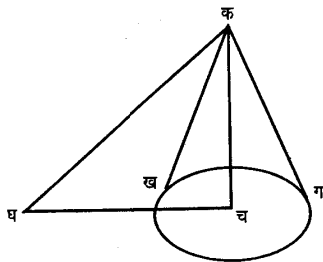
(कर्ण के वर्ग सम्बन्धी सूत्र के प्रयोग से)

$$\text{छाया-कर्ण}^2 = \text{शंकु}^2 + \text{छाया}^2$$

$$\text{कघ}^2 = (\text{कच})^2 + (\text{चघ})^2$$

कघ = $\sqrt{(\text{क}\quad\text{च})^2+(\text{च}\quad\text{ध})^2}$ जो आर्यभट द्वारा दिया गया सूत्र है। यहाँ यह छाया-कर्ण उस गोल की त्रिज्या है जिसका केन्द्र छाया का छोड़ घ है तथा जो शंकु के शीर्ष-बिन्दु क को छूता है।

(घ) समरूप त्रिभुज सम्बन्धी प्रमेय : फिर आर्यभट ने शंकु-छाया सम्बन्धी दो प्रश्नों को हल करने की विधि दी है जिससे यह ज्ञात होता है कि उन्हें समरूप त्रिभुज से सम्बन्धित प्रमेय-'समरूप त्रिभुजों की भुजाएँ समानुपाती होती हैं', की जानकारी भी थी। ये विधियाँ निम्नलिखित हैं :-

(1) 'शङ्कुगुणं शङ्कु भुजाविवरं शङ्कुभुजयोर्विशेषहृतम्।
यल्लब्धं सा छाया ज्ञेया शङ्कोः स्वमूलाद्धि॥' (आर्य० 2.15)

अर्थात् 'शंकु स्थान और भुज स्थान (दीप-स्थान) के अन्तराल (भुजा) को शंकु से गुणित कर फल को शंकु ओर भुज की ऊँचाइयों के अन्तर से भाग देने पर जो लब्धि होती है, वह शंकु के मूल से छाया की लम्बाई होती है।'

भुज (दीप-यष्टि) तथा शंकु के लिए क्रमशः अब और दस मानें। उनके बीच की दूरी ब,स है। दोनों की ऊँचाइयों का अन्तर = अ ब-द स = अ ब-फ ब = अ फ तथा स इ शंकु की छाया है।
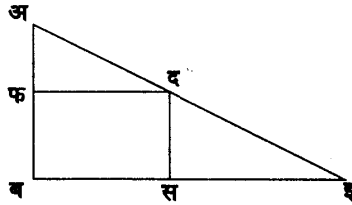
सूत्रानुसार

$$\text{छाया की लम्बाई} = \text{स इ} = \frac{\text{ब}\quad\text{स}\times\text{स}\quad\text{द}}{\text{अ}\quad\text{ब}-\text{द}\quad\text{स}} = \frac{\text{ब}\quad\text{स}\times\text{स}\quad\text{द}}{\text{अ}\quad\text{फ}} \quad ....(1)$$

यह सूत्र दो त्रिभुजों स द इ और अ फ द के समरूप होने से प्राप्त होता है। यदि ये दोनों त्रिभुज समरूप हैं, तो भुजाएँ समानुपाती होंगी।

$$\text{इसलिए} \quad \frac{\text{स द}}{\text{अ फ}} = \frac{\text{स इ}}{\text{फ द}} = \frac{\text{द इ}}{\text{अ द}}$$

$$\therefore \quad \text{स इ} = \frac{\text{फ द} \times \text{स द}}{\text{अ फ}} = \frac{\text{ब स} \times \text{स द}}{\text{अ फ}} = (\because \text{ फ द} = \text{ब स})$$

इस तरह सूत्र (1) प्राप्त होता है।

इससे पृथ्वी की छाया की लम्बाई भी निकाली जा सकती है। ब्रह्मगुप्त एवं भास्कराचार्य द्वितीय ने तो ठीक इसी सूत्र का प्रयोग किया है तथा तत्सम्बन्धी उदाहरण भी दिए हैं।

(2) 'छायागुणितं छायाग्रविवर मूनेन भाजिता कोटी।
शङ्कुगुणा कोटी सा छायाभक्ता भुजा भवति।।' (आर्य० 2.16)

अर्थात् 'यदि दीप-यष्टि और दो शंकु एक ही सीधी रेखा में हों तो छायाग्रों के अन्तराल को छाया से गुणित कर फल को छायाओं की लम्बाई के अन्तर से भाग देने पर कोटि प्राप्त होती है। कोटि को शंकु से गुणित कर छाया से भाग देने पर भुज मिलती है।'
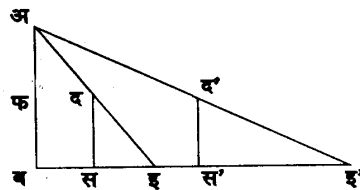
यहाँ अ ब दीप-यष्टि है तथा स द और स'द' एक ही शंकु की दो स्थितियाँ हैं। स इ और स'इ' शंकु की दोनों स्थितियों में छायाएँ हैं। इन दो स्थितियों में ब इ और ब इ' दो भुज हैं। इ इ' दोनों छायाओं के अन्तिम बिन्दुओं की दूरी है। सूत्रानुसार

$$\text{ब इ} = \frac{\text{इ इ}^1 \times \text{स इ}}{\text{स}^1\text{ इ}^1 - \text{स इ}} \text{ तथा अ ब} = \frac{\text{ब इ} \times \text{स द}}{\text{स इ}} \quad ....(1)$$

$$\text{फिर ब इ}^1 = \frac{\text{इ इ}^1 \times \text{स}^1\text{ इ}^1}{\text{स}^1\text{ इ}^1 - \text{स इ}} \text{ तथा अ ब} = \frac{\text{ब इ}^1 \times \text{स}^1\text{ द}^1}{\text{स इ}^1} \quad ....(2)$$

इन सूत्रों को समरूप त्रिभुजों से सम्बन्धित प्रमेय की सहायता से प्राप्त किया जा सकता है।

समरूप त्रिभुज अ,ब,इ और स,द,इ से

$$\frac{\text{अ ब}}{\text{स द}} = \frac{\text{ब इ}}{\text{स इ}} \qquad \therefore \quad \text{अ ब} = \frac{\text{ब इ} \times \text{स द}}{\text{स इ}}$$

फिर समरूप त्रिभुज अ,ब,इ और स'द'इ' से

$$\frac{\text{अ ब}^1}{\text{स}^1\text{द}^1} = \frac{\text{ब इ}^1}{\text{स}^1\text{इ}^1} \qquad \therefore \text{ अ ब} = \frac{\text{ब इ}^1 \times \text{स}^1\text{द}^1}{\text{स}^1\text{इ}^1}$$

चूँकि स द = स'द', $\therefore \quad \frac{\text{अ व}}{\text{स द}} = \frac{\text{अ ब}}{\text{स}^1 \text{ द}^1}; \quad \therefore \quad \frac{\text{व इ}}{\text{स द}} = \frac{\text{ब इ}^1}{\text{स}^1\text{इ}^1};$

$$\therefore \quad \frac{\text{स}^1 \text{ इ}^1}{\text{स इ}} = \frac{\text{ब इ}^1}{\text{ब इ}}$$

अर्थात् $\frac{\text{स}^1 \text{ इ}^1 - \text{स इ}}{\text{स इ}} = \frac{\text{ब इ}^1 - \text{ब इ}}{\text{ब इ}}; \quad \therefore \quad \frac{\text{स}^1 \text{ इ}^1 - \text{स इ}}{\text{स इ}} = \frac{\text{इ इ}^1}{\text{ब इ}}$

$$\therefore \quad \text{ब इ} = \frac{\text{स इ} \times \text{इ इ}^1}{\text{स}^1 \text{ इ}^1 - \text{स इ}}$$

इसी तरह यह भी दिखलाया जा सकता है कि ब इ' = $\frac{\text{इ इ}^1 \times \text{स}^1 \text{ इ}^1}{\text{स स}^1 - \text{स इ}}$

(ङ) शर सम्बन्धी प्रमेय :

'वृत्ते शरसंवर्गोऽर्धज्यावर्ग: स खलु धनुषो:। (आर्य० 2.17)

अर्थात् 'किसी वृत्त में दोनों शरों का गुणनफल चाप की अर्धज्या के वर्ग के तुल्य होता है।'
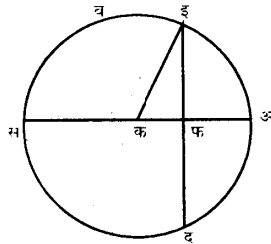
यहाँ अ, ब, स वृत्त में केन्द्र क है। चापकर्ण इ,द वृत्त को अ,द,इ और स,द,इ दो चापों में विभाजित करता है। व्यास अ,स चापकर्ण इ,द को फ पर समद्विभाजित करता है। स,फ और फ,अ यही दोनों शर हैं। द,इ चापकर्ण (ज्या) तथा इ,फ अर्धज्या है। नियम को संकेत-लिपि में इस तरह लिखा जा सकता है:- स,फ X फ,अ = इफ^2 ....(1)

इसे प्राप्त करने के लिए भी आर्यभट ने कर्ण के वर्ग के प्रमेय को ही व्यवहार किया होगा। समकोण त्रिभुज क,फ,इ में

$$\text{कइ}^2 = \text{कफ}^2 + \text{फइ}^2$$

अर्थात् $\text{फइ}^2 = \text{कइ}^2 - \text{कफ}^2$

$$= (\text{कइ} + \text{कफ})\ (\text{कइ} - \text{कफ})$$

= (कस + कफ) (कअ-कफ) (चूँकि कइ = कस = कअ)

= सफ x फअ, जो सूत्र (1) है।

इस प्रमेय का प्रयोग :-

'ग्रासोने द्वे वृत्ते ग्रासगुणे भाजयेत् पृथक्त्वेन।
ग्रासोनयोगभक्ते सम्पातशरौ परस्परतः॥' (आर्य० 2.18)

अर्थात् 'व्यास में से ग्रास को घटाकर और उसे ग्रास से गुणित कर फल को ग्रास हीन व्यासों के योग से विभाजित करने पर उनके सम्पात शर प्राप्त होते हैं।'

यहाँ भी भाषा अत्यन्त संक्षिप्त है। इसे निम्नलिखित आकृति की सहायता से समझा जा सकता है:-

मान लें क और क' केन्द्र के दो वृत्त हैं जो एक दूसरे को ब और स पर काटते हैं। बस उभयनिष्ठ चापकर्ण (ज्या) है।
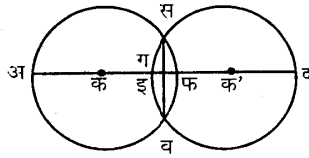
मान लें कि केन्द्रों से गुजरने वाली रेखा अ,इ,फ,द चापकर्ण ब,स को ग बिन्दु पर समकोण पर समद्विभाजित करती है। दोनों वृत्तों के व्यासों के उभयनिष्ठ भाग इ,फ ग्रास है तथा इ,ग और फ,ग दोनों वृत्तों के सम्पात शर हैं जिन्हें हमे ज्ञात करना है। दिए हुए सूत्रानुसार :-

$$\text{इ ग} = \frac{\text{इ फ} \times (\text{अ फ} - \text{इ फ})}{\text{अ फ} - \text{इ फ} + \text{इ द} - \text{इ फ}} \text{ और}$$

$$\text{फ ग} = \frac{\text{इ फ} \times (\text{इ द} - \text{इ फ})}{\text{अ फ} - \text{इ फ} + \text{इ द} - \text{इ फ}}$$

इन फलों को प्राप्त करने के लिए उपरोक्त सूत्र का प्रयोग किया जा सकता है। दोनों वृत्तों से (सूत्रानुसार)

$$\text{सग}^2 = \text{फग} \times \text{अग तथा सग}^2 = \text{इग} \times \text{गद}$$

$$\therefore \quad \text{इग} \times \text{गद} = \text{फग} \times \text{अग}$$

अर्थात् $\text{इग}(\text{इद}-\text{इग}) = (\text{इफ}-\text{इग}) \left\{\text{अफ}-(\text{इफ}-\text{इग})\right\}$

$$\text{इग} \times \text{इद}-\text{इग}^2 = \text{अफ} \times \text{इफ}-\text{अफ} \times \text{इग}-\text{इफ}^2-\text{इग}^2+2\text{इग} \times \text{इफ}$$

$$\text{इग} \times \text{इद}-2\text{इग} \times \text{इफ} + \text{इग} \times \text{अफ} = \text{अफ} \times \text{इफ}-\text{इफ}^2$$

$$\text{इग} (\text{इद}-2\text{इफ}+\text{अफ}) = \text{इफ} (\text{अफ}-\text{इफ})$$

$$\therefore \text{इ ग} = \frac{\text{इ फ (अ फ-इ फ)}}{\text{अ फ - इ फ + इ द- इ फ}}$$

इसी तरह $\text{फ ग} = \frac{\text{इ फ (इ द-इ फ)}}{\text{अ फ - इ फ + इ द- इ फ}}$, जो अभीष्ट फल हैं।

भास्कर प्रथम ने आर्यभटीय-भाष्य में 'शंकु-छाया सम्बन्धी अनेक प्रश्नों को हल किया है जिनमें से दो का विवरण नीचे दिया जा रहा है:-

उदाहरण 1 : दो समान शंकुओं की छायाओं की लम्बाइयाँ क्रमश: 10 और 16 अंगुल हैं तथा छायाओं का अन्तराल 30 अंगुल है तो दीप-यष्टि की ऊँचाई तथा शंकुओं की स्थितियाँ क्या हैं?
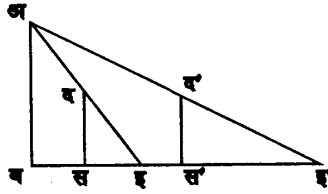
प्रश्न से इइ' = 30 अंगुल, सइ = 10 तथा स'इ' = 16 अंगुल

सूत्र से, $\text{ब इ} = \frac{\text{इ इ}^1 \times \text{स इ}}{\text{स}^1 \text{ इ}^1\text{-स इ}} = \frac{30\times10}{16-10} = \frac{300}{6} = 50$ अंगुल

$\therefore$ ब स = ब इ - स इ = 50-10 = 40 अंगुल

फिर $\text{ब इ}' = \frac{\text{इ इ}^1 \times \text{स}^1 \text{ इ}^1}{\text{स}^1 \text{ इ}^1\text{-स इ}} = \frac{30\times16}{16-10} = \frac{480}{6} = 80$ अंगुल

ब स' = ब इ'-स'इ' = 80-16 = 64 अंगुल।

$\therefore$ दीपयष्टि की ऊँचाई = अ ब = $\frac{\text{ब इ} \times \text{स द}}{\text{स इ}} = \frac{50\times12}{10} = 60$ अंगुल

उदाहरण 2 : किसी पूर्ण प्रस्फुटित कमल की नाल जल से ठीक 8 अंगुल ऊपर है। वायु के झोंके से वह एक हाथ पर जल में डूब जाती है, तो कमल के पौधे की ऊँचाई तथा जल की गहराई क्या है?

आकृति में क केन्द्रवाला एक वृत्त है। अब खड़ा व्यास है तथा सद क्षैतिज चापकर्ण है जो अ ब को इ पर काटता है।
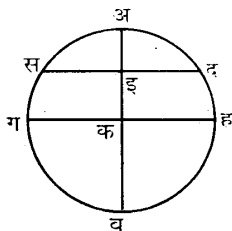
ग, ह जमीन-स्तर है, सद पानी की सतह। क कमल के पौधे की जड़ है तथा कइ कमल का पौधा है। अइ कमल की नाल है जो 8 अंगुल है। स और द दो बिन्दु हैं जहाँ कमल की नाल डूब जाती है अर्थात् सइ = 24 अंगुल। कअ (कमल के पौधे की ऊँचाई) = $\frac{\text{इ ब+अ इ}}{2}$ तथा क इ = $\frac{\text{इ ब−अ इ}}{2}$

सूत्र सइ^2 = अइ × इब से

$$\text{इ ब} = \frac{\text{स इ}^2}{\text{अ इ}} = \frac{24\times24}{8} = 72 \text{ अंगुल।}$$

$$\text{इसलिए क अ} = \frac{\text{इ ब+अ इ}}{2} = \frac{72+8}{2} = 40 \text{ अंगुल।}$$

$$\text{और क इ} = \frac{\text{इ ब−अ इ}}{2} = \frac{72-8}{2} = 32 \text{ अंगुल।}$$

(च) त्रिभुज का क्षेत्रफल तथा त्रिभुजाकार शंकु का आयतन :

'त्रिभुजस्य फलशरीरं समदलकोटी भुजार्धसंवर्गः।
ऊर्ध्वभुजा तत्संवर्गार्धं स घनष्षड श्रिरिति॥' (आर्य० 2.6)

अर्थात् 'त्रिभुज का क्षेत्रफल उसका शरीर है और यह लम्ब तथा भुजार्ध के गुणनफल के तुल्य होता है। इसके तथा ऊँचाई के गुणनफल का आधा उस ठोस का आयतन होता है जिसके छः किनारे होते हैं।'

इसके अनुसार त्रिभुज का क्षेत्रफल = 1/2 × आधार × लम्ब जो पूर्णतः शुद्ध है तथा जिसका उपयोग अभी भी इसी रूप में होता है, पर त्रिभुजाकार शंकु (षडश्रि) के आयतन के लिए दिया गया सूत्र= 1/2 × आधार × लम्ब × 1/2 शंकु की ऊँचाई, जो अशुद्ध है। शुद्ध सूत्र के लिए 1/2 की जगह 1/3 होना चाहिए। सम्भवतः आर्यभट के गलत अनुमान के कारण ऐसी अशुद्धि हुई है।

(छ) वृत्त का क्षेत्रफल तथा गोल का आयतन : उपरोक्त आर्या की तरह निम्नलिखित आर्या में भी वृत्त के क्षेत्रफल तथा गोल के आयतन सम्बन्धी दोनों सूत्र एक साथ दे दिए गए हैं :-

'समपरिणाहस्यार्धं विष्कम्भार्धहतमेव वृत्तफलम्।
तन्निजमूलेन हतं घनगोलफलं निरवशेषम्॥' (आर्य० 2.7)

अर्थात् 'वृत्त की परिधि के आधे के अर्द्धव्यास से गुणा करने पर वृत्त का क्षेत्रफल मिलता है। इस क्षेत्रफल को इसके वर्गमूल से गुणा करने पर गोल का शुद्ध घनफल प्राप्त होता है।'

इसके अनुसार वृत्त का क्षेत्रफल = $\frac{2\pi ब}{2} \times ब = \pi ब^2$ जहाँ ब वृत्त की त्रिज्या (अर्द्धव्यास) है, जो पूर्णतः शुद्ध है, पर गोल के आयतन का सूत्र = $\pi.ब^2 \times \sqrt{\pi ब^2} =$ $\pi\sqrt{\pi}\ ब^3$ जो अशुद्ध है। इसका आधुनिक मान = $\frac{4}{3}\pi ब^3$ जिसे भास्कर प्रथम, श्रीधर, महावीराचार्य भास्कर द्वितीय आदि भारतीय गणितज्ञों ने इसी रूप में दिया है। जहाँ आर्यभट द्वारा स्थापित त्रिभुजाकार शंकु एवं गोल के आयतन सम्बन्धी सूत्र अशुद्ध हैं, वहाँ समकालीन यूनानी गणितज्ञों ने उसके सही मान दिए हैं। आर्यभट द्वारा प्रतिपादित इन अशुद्ध सूत्रों से यह सोचने को बाध्य होना पड़ता है कि उन्होंने स्वतंत्र रूप से सिद्धातों का अन्वेषण किया है, किसी अन्य देश विशेष कर यूनानी विद्वानों के सिद्धान्तों स प्रभावित होकर नहीं।

(ज) समलम्ब विषम चतुर्भुज का क्षेत्रफल :

'आयामगुणे पार्श्वे तद्योगहृते स्वपातरेखे ते।
विस्तरयोगार्धगुणे ज्ञेयं क्षेत्रफलमायामे।' (आर्य० 2.8)

अर्थात् '(समलम्ब विषम चतुर्भुज में) आयाम और किसी पार्श्व के गुणनफल में पार्श्वों के योग से भाग देने पर उसकी पात रेखा प्राप्त होती है और पार्श्वों के योग के आधे में आयाम से गुणा करने पर (उसका) क्षेत्रफल प्राप्त होता है।'

समलम्ब विषम चतुर्भुज की समानान्तर भुजाएँ पार्श्व कहलाती हैं और उनके बीच की दूरी आयाम। दोनों विकर्णों के मिलन बिन्दु को सम्पात बिन्दु कहते हैं तथा उस बिन्दु से पार्श्वों पर डाले गए लम्ब पात रेखाएँ हैं।
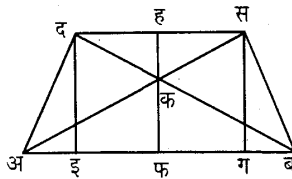
अ,ब,स,द एक समलम्ब विषम चतुर्भुज है। अब और स,द पार्श्व रेखाएँ हैं, स,ग और द,इ आयाम हैं, क सम्पात बिन्दु है तथा क,फ और क ह सम्पात रेखाएँ हैं।

$$\text{सूत्र के अनुसार, क फ} = \frac{\text{अ व x फ ह}}{\text{अ ब+स द}} \quad ....(1)$$

$$\text{और क ह} = \frac{\text{स द x फ ह}}{\text{अ व+स द}} \quad ....(2)$$

$$\text{तथा अब सद का क्षेत्रफल} = \frac{\text{अ ब×स द}}{2} \text{ फ ह} \quad ....(3)$$

ये तीनों सूत्र शुद्ध हैं। हमने पूर्व में देखा है कि आर्यभट को समरूप त्रिभुज सम्बन्धी प्रमेय तथा त्रिभुज के क्षेत्रफल के सूत्र की जानकारी थी। उन सिद्धान्तों की सहायता से इन सूत्रों की स्थापना की जा सकती है।

समरूप त्रिभुज अ,फ,क और अ,ग,स से तथा समरूप त्रिभुज ब,फ,क और ब,इ,द

$$\text{से } \frac{\text{अ ग}}{\text{अ फ}} = \frac{\text{व इ}}{\text{व फ}} \text{ अर्थात् } \frac{\text{अ ग}}{\text{ब इ}} = \frac{\text{अ फ}}{\text{ब फ}}$$

$$\text{अर्थात् } \frac{\text{अ ग+व इ}}{\text{व इ}} = \frac{\text{अ फ+वफ}}{\text{व फ}}$$

$$\text{अर्थात् } \frac{\text{अ व+स द}}{\text{व इ}} = \frac{\text{अ व}}{\text{व फ}}$$

$$\text{अर्थात् } \frac{\text{अ व+स द}}{\text{अ व}} = \frac{\text{व इ}}{\text{व फ}} = \frac{\text{द इ}}{\text{क फ}}$$

$$\text{इसलिए} \quad \text{क फ} = \frac{\text{अ ब×द इ}}{\text{अ ब+स द}} = \frac{\text{अ ब×फ ह}}{\text{अ ब+स द}}$$

इसी तरह सूत्र (2) भी निकाला जा सकता है।

फिर अ ब स,द का क्षेत्रफल = त्रिभुज अ,द,इ + त्रिभुज ब,स,ग + आयत द,इ,ग,स

= 1/2 ×अइ × दइ+1/2बग × गस+इग × सग

= 1/2 (अइ × फह+बग × फह+2इग × फह)

= 1/2 फह (अइ+बग+2इग)

= 1/2 फह (अइ+बग+इग+इग)

= 1/2 फह (अब+सद)

(भ) किसी समतल क्षेत्र का क्षेत्रफल :

'सर्वेषां क्षेत्राणां प्रसाध्य पार्श्वे फलं तदभ्यासः।' (आर्य० 2.8 $\frac{1}{2}$)

अर्थात् ' सभी क्षेत्रों में पार्श्वों (आयाम एवं विस्तार) को ज्ञात करके उनके गुणनफल से क्षेत्रफल ज्ञात करना चाहिए।'

विभिन्न टीकाकारों के मतानुसार पार्श्व का अर्थ है किसी भी समतल क्षेत्र की औसत लम्बाई और औसत चौड़ाई। इसलिए सर्व प्रथम उन्हें निकालना चाहिए और तब उन दोनों को गुणा कर देना चाहिए जिससे उसका क्षेत्रफल निकलता है, यथा वर्ग का क्षेत्रफल दोनों भुजओं का गुणनफल है अर्थात् भुजा^{2} क्योंकि वर्ग में औसत लम्बाई और चौड़ाई उसकी दो भुजाएँ हैं; आयत में भी औसत लम्बाई और चौड़ाई उसकी दोनों भुजाएँ हैं और इसलिए उसका क्षेत्रफल उसकी दोनों भुजाओं का गुणनफल है। समलम्ब विषम चतुर्भुज में औसत लम्बाई दोनों समानान्तर भुजाओं के योग का आधा है तथा औसत चौड़ाई उन दोनों समानान्तर भुजाओं के बीच की दूरी है और इसलिए उसका क्षेत्रफल = 1/2 समानान्तर भुजओं का योगXलम्बात्मक दूरी। त्रिभुज का क्षेत्रफल उस आयत के क्षेत्रफल का आधा होता है जिसकी ऊँचाई एवं जिसका आधार त्रिभुज की ऊँचाई एवं आधार के बराबर हैं। इसलिए त्रिभुज का क्षेत्रफल = 1/2 × आयत की दोनों भुजाओं का गुणनफल = 1/2 × आधार × ऊँचाई। इस तरह सभी समतल क्षेत्रों के क्षेत्रफल उपरोक्त सूत्र से निकाले जा सकते हैं।

(ञ) चापकर्ण (ज्या) एवं व्यासार्ध (त्रिज्या) का सम्बन्ध :

'परिधेष्षड्भागज्या विष्कम्भार्धेन सा तुल्या।' (आर्य० 2.9)

अर्थात् 'परिधि के छठे भाग की ज्या अर्धव्यास के तुल्य होती है।'
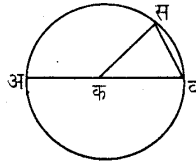
क केन्द्र का अ,ब,स एक वृत्त है। चाप बस परिधि का छठा भाग है।

सूत्रानुसार, ब,स की ज्या= त्रिज्या क,ब

चूँकि चाप ब,स का छठा भाग है, इसलिए ∠ब,क,स = 60^0

फिर चूँकि क,ब= क,स इसलिए ∠क,ब,स = ∠क,स,ब = 60^0

इसलिए Δ क,ब,स समबाहु है।

इसलिए क,ब = ब,स = क,स अर्थात् ब,स की ज्या = व्यासार्ध क,ब।

(ट) परिधि एवं व्यास का अनुपात अर्थात् π का मान : युगों से गणितज्ञों के लिए जो एक बड़ी समस्या रही है, वह है किसी वृत्त की परिधि एवं उसके व्यास का

अनुपात अर्थात् π का मान निकालना। आर्यभट ने इसका मान निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया है:-

'चतुरधिकं शतमष्टगुणं द्वाषष्टिस्तथा सहस्राणाम्।

अयुतद्वय विष्कमभस्यासन्नो वृत्तपरिणाह:।।' (आर्य० 2.10)

अर्थात् ' चार अधिक एक शत अर्थात् 104 का आठ गुना यानी 832 और बासठ सहस्र अर्थात् 62,832 उस वृत्त की परिधि का आसन्न मान है जिसका व्यास 20,000 है।' सूत्र से स्पष्ट है कि

$$\frac{\text{परिधि}}{\text{व्यास}} = \frac{62{,}832}{20{,}000}$$

अर्थात् $\pi = \frac{3927}{1250} = 3\frac{177}{1250}$

= 3.1416 आसन्न मान।

π का आधुनिक मान = 3.14159 ....

π के इन दोनों मानों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि आर्यभट का मान आधुनिक मान से बहुत ही निकट है। आश्चर्य की बात यह हे कि इतने प्राचीन काल में भी आर्यभट ने π का ऐसा सही मान दिया है। इतना ही नहीं, उन्होंने ऐसे सही मान को भी आसन्न ही कहा है जिससे प्रमाणित होता है कि उन्हें इसका भी ज्ञान था कि π का मान इससे भी सूक्ष्मतर हो सकता है। यह उनकी प्रतिभा का ज्वलन्त उदाहरण है। भारत में ही नहीं, विश्व के किसी भी सभ्य देश में आर्यभट से पूर्व किसी ने π का ऐसा सही मान नहीं दिया है। आर्यभट के इस शुद्धत्तम मान को देखकर कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने यह संदेह व्यक्त किया है, कि उन्होंने सम्भवत: यह मान यूनानी विद्वानों से ग्रहण किया है, परन्तु यह धारणा निर्मूल है।[18] यूनान के एपोल्लोनियस एवं टोलेमी ने π के मान क्रमश: $3\frac{17}{20}$ और 88' 30" दिए हैं जहाँ चीन के सू चूंग-ची के अनुसार इसका मान $\frac{355}{113}$ है जो आर्यभट के मान से भिन्न हैं।

भारत में भी अति प्राचीन काल से ही यह समस्या थी कि π का सही मान क्या होगा? ऋग्वेद के साथ-साथ विभिन्न संहिताओं में यज्ञ की वेदियों की रचना के क्रम में इसके मान की आवश्यकता हुई। शुल्व-सूत्रों में इसके मान 3.0883, 3.0885, 3.004, 3 आदि हैं और सूर्य-प्रज्ञप्ति में 3 और $\sqrt{\frac{10}{1}}$। आर्यभट का ध्यान भी इस समस्या की ओर गया। उनके समक्ष जो π के अनेक मान थे, उनमें से किसी को उन्होंने स्वीकार नहीं किया।

अपनी बुद्धि से उन्होंने इसके सूक्ष्मतर मान की खोज की और अपनी सिद्धहस्तता प्रमाणित की। इस दिशा में उनका यह अभूतपूर्व योगदान है। उनके द्वारा दिए गए π के इस मान को लल्ल, भट्टोत्पल, भास्कर द्वितीय आदि भारतीय गणितज्ञों ने तो अपनाया ही, साथ ही अरबी गणितज्ञ अल-खोवारिज्मी ने भी इसी रूप में $\frac{62,832}{20,000}$ ग्रहण किया है। π के मान के लिए आर्यभट ने जिस प्रकार का उद्‌भावन किया है, वह आधुनिक गणित की उपपत्तियों की सहायता से भी प्राप्त किया जा सकता है। साथ ही उनका यह कथन कि यह आसन्न मान है, इस तथ्य की ओर इंगित करता है, कि उन्हें इसकी जानकारी थी कि π एक अपरिमेय संख्या है जिसकी खोज लैम्बर्ट ने 1761 ई० में की। इस तरह आर्यभट ने लगभग 1300 वर्ष पूर्व ही π के सही रूप पर गम्भीरता से विचार किया जिसमें उन्हें पूरी सफलता मिली।[19]

3.6 **त्रिकोणमिति** : प्राचीन युग में त्रिकोणमिति का विकास ज्योतिष की एक सहचरी के रूप में हुआ। स्वभावतः भारत मे भी इसकी शुरुआत ज्योतिष के साथ-साथ पूर्व ऐतिहासिक काल में ही हुई। मिस्र, चीन, बेबिलोन, रोम आदि प्राचीन सभ्य देशों की तरह यहाँ भी ईसा के बहुत पूर्व ही समय जानने के लिए धूपघड़ी (Sundial) का आविष्कार हुआ। शुल्व-सूत्रों (800 ई०पू०) में कीली एवं शंकु का उल्लेख मिलता है। तत्पश्चात् त्रिकोणमितीय फलनों की खोज की गयी। यह अब निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि त्रिकोणमितीय फलनों में से तीन (ज्या, कोटिज्या एवं उत्क्रमज्या) की स्पष्ट रूप से परिभाषा सबसे पहले हिन्दुओं ने ही दी थी। ज्या का शाब्दिक अर्थ है धनुष की डोरी। भारतीय ज्या का आधार चाप है, न कि कोण। किसी चाप की ज्या उसके अर्ध-जीवा के बराबर होती है। यह त्रिकोणमितीय अनुपात आधुनिक युग के अनुपात से भिन्न है। ज्या का प्राचीन नाम अर्ध-जीवा है। बाद में अर्ध शब्द उड़ गया तथा जीवा ज्या बन गया।[20] सूर्य-सिद्धान्त में अर्ध-जीवाओं की सारणी दी गयी है। आर्यभट सर्वप्रथम भारतीय गणितज्ञ हैं जिन्होंने ज्या का प्रयोग किया तथा उसे परिभाषित भी किया। इसे निम्नलिखित चित्र से समझा जा सकता है:-

(क) ज्या :
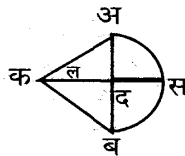
मान लें कि क केन्द्र का एक वृत्त है जिसका एक चाप अ,ब है; स इस चाप का मध्य

बिन्दु है और इसलिए द चापकर्ण अ,ब का मध्य बिन्दु है। चूँकि चाप अ,ब का आकार धनुष का है, इसलिए चापकर्ण अ,ब को डोरी या ज्या अथवा जीवा कहा जाता है। इस तरह चाप अ,ब की ज्या चापकर्ण अ,ब है। फलतः अ,द चाप अ,ब की अर्ध-जीवा अथवा अर्ध-ज्या है जिसे आर्यभट ने ज्या कहा है और तब से इसे ज्या कहने की परम्परा हो गयी। इस तरह अ,स की ज्या का अर्थ है अ,द। मान लें कि ∠अ,क,स = ल और वृत्त की त्रिज्या र है।

चूँकि कोण = चाप/त्रिज्या, इसलिए ल = अ,स/र अर्थात् अ,स = र × ल जिससे अ,स की ज्या = ज्या (र × ल)

आधुनिक संकेत लिपि में साइन ल = अ,द/क,अ अर्थात् अ,द = क,अ साइन ल = र साइन ल

लेकिन अ,स की ज्या = अ,द

∴ अ,द = अ,स की ज्या = र साइन ल

अर्थात् ज्या (रXल) = र साइन ल।

इसमें अगर त्रिज्या का मान 1रखें तो ज्या ल = साइन ल। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आर्यभट की ज्या वही है जो आधुनिक साइन है। इस तरह आर्यभट की ज्या एक अनुपात नहीं, एक रेखक माप है। यहाँ कोण की जगह चाप लिया जाता है तथा कोण के जो भी आवश्यक गुण हैं, उन्हें इसी में आरोपित किया जाता है।

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि आर्यभट द्वारा व्यवहृत ज्या का ही रूपान्तर इसका आधुनिक नाम साइन है। भारत से यह शब्द आठवीं शताब्दी में अरब पहुँचा जहाँ जीवा के रूप में यह प्रचलित हो गया। कुछ समय पश्चात् जीवा का विकार ज़ैव में हो गया। अरबी में ज़ैव का अर्थ है वक्ष। अरबी से लैटिन में जैव का अनुवाद क्रेमोन के घेराडों (1150 ई०) ने साइनस किया जिसका लैटिन में एक अर्थ वक्ष भी है। फ्रांसीसी गणितज्ञ हेरिगोन (1634 ई०) ने साइनस का प्रयोग साइन के रूप में किया और तब से इसका प्रयोग इसी रूप में होता रहा है।[21] आर्यभट की ज्या को ब्रह्मगुप्त ने क्रम ज्या कहा, पर वह नाम लोकप्रिय नहीं हो सका। परवर्ती प्रायः सभी गणितज्ञों ने ज्या का प्रयोग करना ही ठीक समझा।

(ख) उत्क्रमज्या : सूर्य-सिद्धान्त के बाद उत्क्रम ज्या (versed sine) की परिभाषा एवं उसका प्रयोग आर्यभटीय में ही उपलब्ध है। उत्क्रम का अर्थ होता है उल्टा। इस फलन का ऐसा नाम इसलिए पड़ा कि यदि अ,स की ज्या अ,द को दाहिनी ओर 90^0 के कोण पर घुमाया जाये तो वह द,स की दिशा में आ जाएगी। अतः द,स को हम उल्टी द,अ अथवा घूमी हुई द,अ कह सकते हैं। समय के अन्तराल में उत्क्रम ज्या का संक्षिप्त रूप उज्ज्या हो गया। इसका आधुनिक रूप है वर्सेड साइन ल = र-कौसल।

(ग) कोटिज्या : आर्यभट ने कोटि शब्द का प्रयोग किया है समकोण त्रिभुज की भुजा के रूप में। इसका अर्थ है धनुष का वक्र सिरा भी जिससे कोटिज्या का अर्थ 90^0 के चाप का सम्पूरक हो गया अर्थात् सम्पूरक चाप की ज्या को ही त्रिकोणमिति में कोटिज्या के

रूप में समझा जाने लगा। निम्नलिखित चित्र से इसे आसानी से समझा जा सकता है।
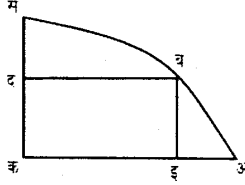
यहाँ चाप ब,स चाप अ,ब का सम्पूरक है। अब की ज्या ब,इ है और इसी तरह ब,स की ज्या ब,द अथवा क,इ है। अत: चाप अ,स की कोटिज्या क,इ है। आधुनिक रूप में जब ज्या को साइन कहा जाने लगा तो कोटिज्या को कोसाइन कहने की परम्परा हो गयी। कोटिज्या फिर कोज्या के रूप में संक्षिप्त हो गयी। परवर्ती विद्वानों ने इसे भी अपने ग्रंथों में व्यवहार करना शुरू कर दिया। प्राचीन काल में सम्भवत: इन तीन फलनों से ही ज्योतिष के सिद्धान्तों को स्थापित करने का कार्य हो जाता था। बाद में अन्य फलनों की भी परिभाषा दी गयी तथा तत्सम्बन्धी सूत्रों की स्थापना की गयी। इस तरह आर्यभट ने त्रिकोणमितीय फलनों की परिभाषा देकर त्रिकोणमिति को एक नयी दिशा दी। फलस्वरूप इस क्षेत्र में भी उनका आविष्कार मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण है।

(घ) ज्या एवं ज्या-अन्तरों की सारणी :

अन्य भारतीय ज्योतिर्षविदों की तरह आर्यभट ने भी ज्याओं एवं ज्या-अन्तरों की सारणी दी तथा उन्हें प्राप्त करने के लिए वैज्ञानिक विधि की भी विवेचना की। इस उद्देश्य से उन्होंने वृत्त (360^0) को चार चरणों में बाँटा है तथा हर एक चरण को 24 बराबर भागों में विभाजित किया है। फलत: एक भाग = $3\frac{3}{4}^{0}$ = 225 कला (1^0 = 60 कला) जो अत्यल्प कोण है। इस अत्यल्प कोण के लिए चाप को अपने चापकर्ण के बराबर माना गया है तथा इस चाप की ज्या को चाप की लम्बाई के बराबर अर्थात् ज्या ($3\frac{3}{4}^{0}$) = $3\frac{3}{4}^{0}$ = 225 कला जिससे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि आर्यभट को यह ज्ञात था कि यदि कोण बहुत छोटा हो तो ज्या (ल) = ल। आर्यभट ने प्रथम ज्या का मान 225 कला माना है जो सूर्य-सिद्धान्त की भी इकाई है। साथ ही उन्होंने त्रिज्या का मान 3438 माना है जिसे ब्रह्मगुप्त को छोड़कर प्राय: सभी ज्योतिषियों यथा लल्ल, आर्यभट द्वितीय, भास्कराचार्य द्वितीय आदि ने अपनाया है। उपरोक्त सारणी की परिगणना के लिए आर्यभट ने दो नियम दिए हैं जो निम्न रूप में हैं:-

(1) 'समवृत्तपरिधिपादं छिन्द्यात् त्रिभुजाच्चतुर्भुजाच्चैव।
समचापज्याधानि तु विष्कम्भार्धे यथेष्टानि॥' (आर्य० 2.11)

अर्थात् 'किसी वृत्त के चतुर्थांश को त्रिभुज और चतुर्भुज (आयत) द्वारा काटना चाहिए। इस तरह किसी अर्ध-व्यास पर इच्छानुसार बराबर चापों की अर्ध-ज्याएँ प्राप्त की जा सकती हैं।'

यहाँ भी नियम की परिभाषा अति संक्षिप्त है। इसे निम्न आकृति से स्पष्ट किया जा सकता है:-

क केन्द्र का अ,ब,स एक वृत्त है; क,ब अर्ध-व्यास है। वृत्त के चार चरणों में विभाजित करने पर चाप ब,द,स उसका चतुर्थांश है। नियमानुसार क,ब पर एक समकोण त्रिभुज बनाना है। चाप ब,द,स केन्द्र पर 90^0 कोण बनाता है। इसलिए ब,क,स एक समकोण त्रिभुज है जिसका कर्ण ब,स चाप ब,द,स की ज्या है। इस चाप को समद्विभाजित करने पर चाप स,द केन्द्र पर 45^0 का कोण बनाता है जिसकी ज्या चाप स,द है जो ब,स का आधा है। इसी तरह चाप स,द को समद्विभाजित करने पर चाप स,द के आधे की ज्या ब,स के आधे का आधा है औ इस तरह उस चाप की ज्या जो केन्द्र पर $22\frac{1}{2}^0$ का कोण बनाता है, मालूम की जा सकती है। इसी तरह $1\frac{1}{4}^0$ बनाने वाले चाप की ज्या भी निकाली जा सकती हैं। पूरक चाप की ज्या के लिए आयत खींचा जा सकता है। 45^0 के चाप एवं उसके पूरक से एक आयत खींचा जा सकता है तथा 60^0 के चाप एवं उसके पूरक से दूसरा आयत खींचा जा सकता है जिससे 30^0, 15^0, $7\frac{1}{2}^0$ और $3\frac{3}{4}^0$ की ज्याओं को मालूम किया जा सकता है तथा फिर 60^0, $67\frac{1}{2}^0$ और 75^0 की ज्याएँ भी। इसी तरह सभी कोणों की ज्याएँ निकाली जा सकती हैं। इस तरह आर्यभट ने $3\frac{3}{4}^0$ के अन्तर से बननेवाले कोणों की ज्याओं को निकालने के लिए एक नयी पद्धति का आविष्कार किया। नीलकंठ एवं परमेश्वर ने अपने भाष्यों में इसे विस्तार से लिखा है तथा ब्रह्मगुप्त, पृथुदकस्वामी, भास्कर द्वितीय आदि
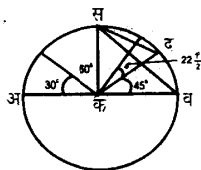
परवर्ती ज्योतिषियों ने इसे विशेष रूप से स्पष्ट किया है। इसके अतिरिक्त आर्यभट ने एक और नियम की विवेचना की है[22], जो निम्न रूप में है:-

(2) 'प्रथमाच्चापज्याधाद् यैरूनं खण्डितं द्वितीयार्धम्।
तत्प्रथमज्यार्धांशैस्तैस्तैरूनानि शेषाणि।।' (आर्य० 2.12)

अर्थात् ' प्रथाम चाप की ज्यार्ध से, उसको उसी से भाग देने पर लब्धि को उसी से घटा दें, इससे द्वितीय ज्या अन्तर प्राप्त होता है। कोई अन्य ज्या अन्तर निकालने के लिए उससे पूर्व समस्त अंतरों को जोड़ को पहली ज्या से भाग देकर लब्धि को उस से पूर्व के अन्तर में घटा दें। इस तरह सारे अन्तर प्राप्त किए जाते हैं।'

यदि $र_1, र_2$ .... $र_{24}$ ज्यार्ध हों तथा $अ_1$ $(= र_1)$, $अ_2$ ....$अ_{24}$ ज्या अन्तर हों, तो उपरिलिखित सूत्र के अनुसार

$$अ_1 = र_1 = 225 \text{ कला},$$

$$अ_2 = अ_1 - \frac{अ_1}{अ_1} = 225-1 = 224$$

$$अ_3 = अ_2 - \frac{अ_1+अ_2}{अ_1} = 224-\frac{225+224}{225} = 222$$

$$अ_4 = अ_3 - \frac{अ_1+अ_2+अ_3}{अ_1} = 222 - \frac{225+224+222}{225}$$

$$= 219 \text{ आदि}$$

सूत्रानुसार ज्या-अन्तरों के ही मान निकाले जा सकते हैं, पर इनकी सहायता से ज्याओं के मान भी प्राप्त किए जा सकते हैं। ज्याओं के जो मान इन सूत्रों से मिलते हैं, आर्यभट ने ठीक वही मान अपनी सारणी में नहीं दिए हैं, वरन् अगले अथवा पिछले पूर्णांकों में उन्हें परिणत कर दिया है। सम्भव है, उन्होंने उपरिलिखित सूत्र से उनके निकट मान निकाले हों और फिर ज्ञात कोणों की ज्याओं से उनकी तुलना कर उनमें संशोधन कर दिएहों। निम्नलिखित सारणी में ज्याओं और ज्या-अंतरों के मान आर्यभटीय, 1.12 के आधार पर दिए जा रहे हैं। साथ ही उनके आधुनिक मान भी प्रस्तुत किए जा रहे है ताकि दोनों का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सके। ये मान $3^0 45^1$ (225 कला) के अन्तर पर दिए गए हैं। आधुनिक समय में अर्ध-ज्या का मान निकालने के लिए वृत्त के अर्ध-व्यास को 1 माना जाता है जहाँ आर्यभट ने इसका मान 3438 कला माना है क्योंकि आर्यभट प्रदत्त पाई

(π) के मान से अर्ध-व्यास $= \frac{\text{परिधि}}{२\pi} = \frac{21600}{2\times3.1416}$ कला $= 3437'44''19'''26.08''''$

$= 3438'$ सन्निकटत:।

ये मान सूर्य-सिद्धान्त में दिए गए मान से मिलते-जुलते हैं। अन्तर इतना ही है, कि जहाँ सूर्य-सिद्धान्त में स्पष्टाधिकार के 17 से 27 श्लोकों में सारणी के आंकड़े दिए गए हैं, वहाँ आर्यभटीय के केवल एक श्लोक में ही ये आंकड़े प्रस्तुत किए गए हैं। इसमें आर्यभट ने संख्याओं के लिखने की अनोखी रीति-अक्षर-संकत का व्यवहार किया है। भास्कर द्वितीय ने भी इन्हीं मानों का प्रयोग किया है। उन्होंने इस अवदान के लिए सूर्य-सिद्धान्त एवं आर्यभट दोनों के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन किया है।[23] इनता ही नहीं, अरबी ज्योतिषविदों ने भी ज्या की इस सारणी को ही अपनाकर व्यवहार किया है।[24] यहाँ यह भी द्रष्टव्य हैं कि आर्यभट ने इस महत्त्वपूर्ण सूत्र की स्थापना ज्यामितीय संरचनाओं के वैज्ञानिक एवं तार्किक आधार पर की होगी जिसे अन्यत्र देखा जा सकता है।[25] आर्यभटीय 1.12 में दिए गए ज्या-अन्तरों के मान के साथ-साथ आधुनिक मान भी निम्नांकित हैं[26]।

		आर्यभट के मान			आधुनिक मान	
क्र.सं	कोण	चाप	ज्या-अन्तरों के मान	ज्याओं के मान	ज्या-अन्तरों के मान	ज्याओं के मान
1.	3°45'	225'	मखि = 225'	225'	224'.856	224'.856
2.	7°30'	450'	भखि = 224'	449'	223'.893	448'.749
3.	11°15'	675'	फखि = 222'	671'	221'.971	670'.720
4.	15°0'	900'	धखि = 219'	890'	219'.100	889'.820
5.	18°45'	1125'	णखि = 215'	1105'	215'.289	1105'.109
6.	22°30'	1350'	ञखि = 210'	1315'	210'.557	1315'.666
7.	26°15'	1575'	ङखि = 205'	1520'	204'.923	1520'.589
8.	30°0'	1800'	हस्झ = 199'	1719'	198'.411	1719'.00
9.	33°45'	2025'	स्ककि = 191'	1910'	191'.050	1910'.050
10.	37°30'	2250'	किष्ग = 183'	2093'	182'.872	2092'.922
11.	41°15'	2475'	श्घकि = 174'	2267'	173'.909	2226'.831
12.	45°0'	2700'	किघ्व = 164'	2431'	164'.202	2431'.033
13.	48°45'	2975'	घ्लकि = 154'	2585'	153'.792	2584'.825
14.	52°30'	3150'	किग्र = 143'	2728'	142'.724	2727'.549
15.	56°15'	3375'	हक्य = 131'	2859'	131'.043	2858'.592
16.	60°0'	3600'	धकि = 119'	2978'	118'.803	2977'.395
17.	63°45'	3825'	किच = 106'	3084'	106'.053	3083'.448
18.	67°30'	4050'	स्ग = 93'	3177'	92'.850	3176'.298
19.	71°15'	4275'	श्झ = 79'	3256'	79'.248	3255'.546
20.	75°0'	4500'	ङ्व = 65'	3321'	65'.307	3320'.853
21.	78°45'	4725'	क्ल = 51'	3372'	51'.087	3371'.940
22.	82°30'	4950'	प्त = 37'	3409'	36'.648	3408'.588
23.	86°15'	5175'	फ = 22'	3431'	22'.051	3430'.639
24.	90°0'	5400'	छ = 7'	3438'	7'.361	3438'.000

संदर्भ-सूची :

1. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य, बी०बी० दत्ता एवं ए०एन० सिंह, हिस्टरी औफ हिन्दू मेथमैटिक्स भाग 1, बम्बई, 1962, पृ० 9-12।
2. वही एवं ल०च० जैन, बेसिक मैथमैटिक्स, जयपुर, 1982, पृ०3-6 एवं पृ० 35-49।
3. द्रष्टव्य, डा० परमेश्वर झा (वर्तमान लेखक), आर्यभट वन एंड हिज कन्ट्रिब्यूशन्स टू मैथमैटिक्स, पटना, 1988, पृ० 87।
4. बी०बी०दत्ता एवं ए०एन०सिंह, वही (सं०1), पृ० 38।
5. गणित-सार-संग्रह, ल०च० जैन (सं०), शोलापुर, 1963 पृ०8।
6. हिस्टरी औफ मैथमैटिक्स, भाग 2, न्यूयार्क, 1958, पृ० 147।
7. वही, पृ० 484।
8. बी०बी० दत्ता एवं ए०एन०सिंह, वही (सं०1), पृ०203।
9. डी०इ०स्मिथ, हिस्टरी औफ मैथमैटिक्स, भाग-2, न्यूयार्क, 1958, पृ०563।
10. वही, पृ० 405 एवं भाग 1, पृ० 271।
11. बी०बी०दत्ता एवं ए०एन०सिंह, वही (सं०1) भाग 2, पृ०9 एवं सी०एन०एस० आयंगर, हिस्टरी औफ एंसिएन्ट इंडियन मैथमैटिक्स, कलकत्ता, 1967, पृ०32।
12. श्रीधराचार्य सूत्रम् : 'चतुराहत वर्ग सेमे रूपैः पक्षद्वयं गुणयेत्।
अव्यक्तवर्गरूपैर्युक्ता पक्षौ ततो मूलम्।।'
भास्कर रचित बीजगणित, आचार्य भास्कर, रामचन्द्र मिश्र, वाराणसी, 1979, पृ०80।
13. वहीं, पृ०166-73।
14. द्रष्टव्य, डा० परमेश्वर झा, वही (सं०3), पृ०154-68।
15. वही, पृ०169-71।
16. द्रष्टव्य, डा०सत्य प्रकाश, फाउन्डर्स औफ साइन्सेज इन एंसिएन्ट इंडिया, दिल्ली, 1965 पृ०605।
17. द्रष्टव्य, सिद्धान्त-शिरोमणि, केदारदत्त जोशी (सं०), भाग 2 बनारस, 1964, पृ०327।
18. द्रष्टव्य, डा० परमेश्वर झा, वही (सं०3), पृ० 243।
19. वही, पृ० 237।
20. डा० ब्रजमोहन, गणित का इतिहास, लखनऊ, 1965 पृ०315।
21. डी०इ० स्मिथ, वही (सं०9), पृ०616।
22. द्रष्टव्य, डा० परमेश्वर झा, वही (सं०3), पृ०264।

23. सिद्धान्त-शिरोमणि, ग्रह० स्पष्टाधिकार, $2-9\frac{1}{2}$ (भाष्य)।
24. डी०इ०स्मिथ, वही (सं०9), पृ०608।
25. द्रष्टव्य, डा० परमेश्वर झा, वही (सं०3), पृ०272।
26. द्रष्टव्य, आर्यभटीय, राम निवास राय (सं०), दिल्ली, 1976, पृ०23 एवं के०एस० शुक्ला, आर्यभटीय औफ आर्यभट, दिल्ली, 1976, पृ०29-30।

(4)

ज्योतिषशास्त्र में आर्यभट की देन

4.1 **विषय-प्रवेश :** भारत में प्राचीन काल से ही विविध याज्ञिक अनुष्ठानों, धार्मिक कृत्यों एवं नित्य-नैमित्तिक कर्मों की प्रधानता रही है। इन्हें समुचित रूप से संचालित करने के लिए मास, तिथि; योग करण, ग्रहण एवं संक्रान्ति का ज्ञान आवश्यक है जिनका परिज्ञान ज्योतिषशास्त्र से होता है। फलतः ज्योतिष सदैव से भारतीय मनीषियों की गहन अभिरूचि का विषय रहा है। इसके दो मुख्य भाग हैं-गणित एवं फलित। फलित भाग गणिताधीन है, बिना गणित के उसका विवेचन हो ही नहीं सकता। भारतीय ज्योतिषशास्त्र को स्कन्धत्रय भी कहा जाता है जिसमें गणित (सिद्धांत), संहिता एवं होरा-तीनों सन्निहित हैं। गणित के आधार पर ही शेष दो स्कन्धों के सिद्धान्तों का निरूपण होता है। इसलिए इस स्कन्ध की मुख्यता है। गणित स्कन्ध में त्रुटि से लेकर कल्प तक की काल-गणना, सौर-चान्द्र मानों का प्रतिपादन, ग्रह-गतियों का निरूपण, ग्रह-नक्षत्र की स्थिति, यन्त्रों के निर्माण-विधि, दिक्-देश-काल के ज्ञान के साथ-साथ अन्यान्य उपयोगी विषयों का विश्लेषण होता है। संहिता (मुहुर्त्त) स्कन्ध में ग्रहों के गमन एवं नक्षत्र-मंडल में उनके गमन से मनुष्य पर होनेवाले शुभाशुभ फल, भूशोधन, दिक्शोधन, गृह-प्रवेश (वास्तु प्रतिष्ठा), देव-प्रतिमा, तिथि, वार, नक्षत्र, योग, संक्रांति के शुभाशुभ फल, मांगलिक कार्यों के मुहूर्त्त, उल्कापात, ग्रहण-फल, प्रश्न शास्त्र, शकुन शास्त्र (निमित्त शास्त्र) आदि समाहित रहते हैं। होरा में मनुष्य की जन्म-'कालीन ग्रह-स्थिति या तिथि-नक्षत्रादिकों द्वारा उसके जीवन में सुख-दुखादि फलों का निरूपण किया जाता है मानव-जीवन के समस्त शुभाशुभों का वर्णन रहता है। फिर गणित स्कन्ध के तीन उपभेद हैं-सिद्धान्त, तंत्र एवं करण। करण में केवल ग्रह-गणित रहता है। तंत्र एवं सिद्धान्त में ग्रहादिकों का गणित, सृष्टि-रचना का वर्णन, गोल-विचार, यंत्र-रचना एवं काल-गणना के मान रहते हैं। साथ ही जिसमें ग्रहगणित का विचार कल्पादि से होता है, वह सिद्धान्त; जिसमें महायुग से होता है वह तंत्र तथा जिसमें किसी इष्ट काल से हो, वह करण है।[1] आर्यभट की रचना आर्यभटीय ज्योतिषशास्त्र का एक प्रमुख तंत्र-ग्रंथ है। यह ग्रहगणित का महत्तम ग्रंथ है। आर्यभट सिद्धान्त-ज्योतिष के उपासक थे एवं इसी विषय में उनकी प्रौढ़ि थी। गणित-गोल के मर्मज्ञ, उद्‌भट खगोलशास्त्री थे। उनकी ग्रहगणित सम्बन्धी अनेक श्रमपूर्ण गवेषणाएँ हैं। वे क्रांतिकारी विचारक थे। स्मृति-पुराण, धर्मशास्त्र-ग्रंथों के अनेक सिद्धान्तों को त्याग कर उन्होंने मौलिक एवं

वैज्ञानिक सिद्धान्तों का निरुपण किया। ग्रहस्पष्टीकरण-पद्धति में सुधारकर अपनी अप्रतिम प्रतिभा द्वारा नूतन आविष्कारों का समावेश किया। ज्योतिष-ग्रंथ में गणितीय सिद्धान्तों का निरूपण कर उन्होंने एक नयी परम्परा स्थापित की। यद्यपि उनका पूर्ण रूपेण उपलब्ध ग्रंथ एक ही है जो छोटा है, तथापि ज्योतिष का तत्त्वभूत सार है। केवल कठिन विषयों का विवेचन किया गया है ओर वह भी अति संक्षेप में। जैसा हमने पूर्व में देखा है, आर्यभटीय के चार अध्यायों में से सिर्फ एक अध्याय में गणितीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है और शेष तीन अध्यायों में सिद्धान्त ज्योतिष के विभिन्न तत्त्वों को समाविष्ट किया गया है। यहाँ उनके द्वारा प्रतिपादित सभी सिद्धान्तों की विवेचना करना तो सम्भव नहीं है, सिर्फ उनके कृतित्व के मुख्य बिन्दुओं पर ही प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है जिससे भारतीय ज्योतिर्विज्ञान के विकास में उनके अमूल्य योगदान का अनुमान लगाया जा सके।

4.2 **काल-गणना** : वेद, ब्राह्मण-ग्रंथ, महाभारत, स्मृति, पुराणदि प्राचीन आध्यात्मिक ग्रंथों में वर्ष, अयन, ऋतु, नक्षत्र आदि बातों की चर्चा है, पर काल-गणना सम्बन्धी सिद्धान्तों को स्पष्ट रूप से विवेचन सर्वाधिक प्राचीन ज्योतिष-ग्रंथ 'वेदांग-ज्योतिष' (12वीं शताब्दी ई०पू०) में पाया जाता है। पुन: इसका विस्तृत विवरण चौथी शताब्दी में रचित सौर, पौलिश, रोमक, पैतामह एवं ब्राह्म-इन पाँच सिद्धांत-ग्रंथों में मिलता है। सूर्य-सिद्धान्त का काल-निर्धारण विशेष युक्तिसंगत है। आर्यभट विरचित आर्यभटीय सर्वप्रथम उपलब्ध पौरूषेय ग्रंथ है जिसमें काल-गणना का वैज्ञानिक विश्लेषण दृष्टिगोचर होता है। आर्यभट के अनुसार काल नित्य है, अनादि एवं अनन्त है, पर ग्रहों के क्षेत्र (आकाश) में गमन से उसका अनुमान किया जाता है-'कालांडयमनाद्यन्तों ग्रहभैरनुमीयते क्षेत्रे' (आर्य०3.11)। व्यावहारिक कार्यो को सुचारू रूपेण सम्पादित करने के लिए उन्होंने काल को कई विभागों में विभक्त किया है:-

'वर्ष द्वादश मासास्त्रिं शद्दिवसों भवेत् स मासस्तु।
एवंकालविभाग: क्षेत्र विभागस्था भगणात्।।' (आर्य० 3.1-2)

इसके अनुसार 1वर्ष = 12 मास, 1मास = 30 दिन, 1दिन = 60 नाडी, 1नाडी = 60 विनाडिका, 1विनाडिका = 60 गुर्वक्षर = 6 प्राण एवं 1प्राण = 10 गुर्वक्षर। प्राण वह काल-विभाग है जिसमें एक सामान्यत: स्वस्थ पुरुष एक श्वास-प्रश्वास पूरा करता है। समय की इकाई प्राण के सम्बन्ध में उनकी उक्ति है-'प्राणेनैति कलां भू:' (आर्य० 1.4) अर्थात् एक प्राण के तुल्य काल्यान्तर में पृथ्वी एक कला घूमती है। इस तरह 1दिन = 60 नाडी = 3600 विनाडिका = 21600 प्राण।

समय की इन छोटी इकाइयों के साथ-साथ आर्यभट ने बड़ी इकाइयों की भी कल्पना की है:-

'रविवर्ष मानुष्यं तदपि त्रिंशद्गुणं भवति पित्र्यम्।
अष्टोत्तरं सहस्रं ब्राह्मो दिवसो ग्रहयुगानाम्।।' (आर्य० 3.7-8)

अर्थात् 'रवि वर्ष मनुष्य का वर्ष होता है। उसका तीस गुना पितरों का वर्ष होता है और पितरों के 12 वर्षों के तुल्य अर्थात् मनुष्य के 360 वर्षों के तुल्य दिव्य वर्ष (अर्थात् देवताओं का वर्ष) होता है। 1200 दिव्य वर्षों का ग्रहों का सामान्य(महायुग) और ग्रहों के 1008 (महा) युगों का ब्रह्मा का एक दिन अथवा एक कल्प होता है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि एक महायुग =1200×12X30 = 43,20,000 रवि वर्ष।

पुनः उन्होंने काल-विभाजन की दूसरी बड़ी इकाइयों की भी चर्चा की है:-

'काहो मनवो ढ मनुयुग श्ख गतास्ते च मनुयुग छ्ना च।
कल्पादेर्युगपादा ग च गुरूदिव्वसाच्च भारतात्पूर्वम्।।' (आर्य० 1.3)

अर्थात् 'ब्रह्मा के एक दिन में (अर्थात् एक कल्प में) 14 मनु होते हैं और एक मन्वन्तर में 72 महायुग होते हैं। कल्प के प्रारम्भ से महाभारत के अन्तिम दिन वृहस्पतिवार तक 6 मनु 27 युग तथ 3 युगपाद बीत चुके थे।' फलतः एक कल्प = 14×72 = 1008 महायुग= 1008 × 43,20,000 वर्ष = 4354560000 वर्ष। साथ ही वर्तमान कल्प में बीते हुए काल की अवधि = 6 मनु+27 महायुग+3 युगपाद

= 6×72+27+3/4 महायुग

$= 459\frac{3}{4}$ महायुग

= 19839600 वर्ष।

उपर्युक्त श्लोक से यह भी स्पष्ट है कि आर्यभट ने एक महायुग को चार बराबर भागों में विभाजित किया है अर्थात् सतयुग, त्रेता, द्वापर एवं कलियुग के वर्षमान तुल्य हैं जिनमें से प्रत्येक = 1080000 वर्ष। आर्यभट ने ज्योतिष के क्षेत्र में एक नयी युग-पद्धति का अंगीकार किया है जो स्मृति-पुराण, सूर्य-सिद्धान्त आदि प्राचीन ग्रंथों की युग-पद्धति से भिन्न है। ब्रह्मगुप्त (ब्रा०स्फु०सि० अध्याय। श्लोक 7-10) एवं अन्य विद्वानों के अनुसार एक मन्वन्तर = 71 महायुग तथा हरएक महायुग में चार युग-सत,त्रेता, द्वापर एवं कलियुग 4:3:2:1 के अनुपात में है जिसके अनुसार कलियुग = 432000 वर्ष द्वापर = 8,64,000 वर्ष, त्रेता = 12,96,000 वर्ष एवं सतयुग = 17,24000 वर्ष। पुनः हर एक युग एवं महायुग के पूर्व एवं बाद में संध्याकाल होते हैं तथा हर एक मनु के आदि, मध्य एवं अन्त में भी एक सतयुग के वर्षमान के बराबर संध्या-काल होता है। इस तरह एक कल्प

= 71×14 महायुग+15 संध्या-काल

= 994 महायुग+15 सतयुग

= 994+6 महायुग

= 1000 महायुग = ब्रह्मा का एक दिन।

तदनुसार कल्पगत काल = 6मनु+7मनु-संध्या+27महायुग+$\frac{9}{10}$ महायुग

= ($426+\frac{14}{7}+27+\frac{9}{10}$) महायुग

= $456\frac{7}{10}$ महायुग

= 1972947179 वर्ष।

इसलिए आर्यभट के अनुसार अधिक कल्पगत काल = $459\frac{3}{4} - 456\frac{7}{10}$ महायुग = $3\frac{1}{20}$ महायुग। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि वर्तमान महायुग के तीन चरणों की दिन संख्या युग-दिन संख्या का $\frac{3}{4}$ अर्थात् 1183438125 होगी। इसमें 7 से भाग देने पर शेष 2 है। अतएव महायुग का प्रथम दिन बुधवार था तो तीन चरणों का अन्तिम दिन वृहस्पतिवार होता है तथा कलियुग का प्रथम दिन शुक्रवार। आधुनिक सिद्धान्तों की गणना के अनुसार कलियुग का प्रथम दिन 18 फरवरी, 3102 वर्ष ईसा पूर्व था।

उपरोक्त दोनों पद्धतियों के तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि आर्यभट की युग-पद्धति विशेष वैज्ञानिक एवं गणना की दृष्टि से सुविधाजनक है। इसमें भिन्नात्मक संख्या नहीं आती और एक कल्प में वर्षों की संख्या ज्ञात करने में आसानी होती। साथ ही एक कल्प या महायुग में ग्रह-भगण, अधिमास, क्षयमास आदि आवश्यक तत्त्वों के मानों को भी पूर्ण संख्या में व्यक्त किया जा सकता है। यह युग-पद्धति भारतीय ज्योतिषियों के मस्तिष्क की ही उपज है, अन्य देशों में तत्सम्बन्धी खोज नहीं की जा सकी। भारतीय विचारकों में भी आर्यभट की पद्धति विशेष युक्ति संगत एवं वैज्ञानिक है।अत: इस विषय में उनका वैशिष्ट्य स्वीकार किया जाता है।

इसके अतिरिक्त सौर एवं चान्द्र मासों के साथ-साथ सौर, सावन, चान्द्र तथा नाक्षत्र दिनों का भी विवरण आर्यभटीय में उपलब्ध है:-

'रविभगणा रव्यब्टा रविशशि योगा भवन्ति शशिमासा:।
रविभूयोगा दिवसा आवर्ताश्चापि नाक्षत्रा:।। (आर्य० 3.5)

अर्थात् 'सूर्य के वर्ष सूर्य के भगण के तुल्य होते हैं। सूर्य एवं चन्द्रमा की युति के तुल्य चान्द्र मास होते हैं। सूर्य एवं पृथ्वी की युति के तुल्य सावन दिन होते हैं और पृथ्वी के आवर्त्त (परिभ्रमण) के तुल्य नाक्षत्र दिन होते हैं।' इस तरह आर्यभट के अनुसार एक वर्ष का वह समय है जिसमें सूर्य आकाश में पुन: पहले नक्षत्र के आदि में आ जाता है अर्थात्

जितने समय में वह एक भगण पूरा करता है। चन्द्रमा की सूर्य से युति अमावस्या के अन्त में होती है, फिर चन्द्रमा जब सूर्य से एक भगण अधिक चल लेता है तब अगला चान्द्र मास आरम्भ होता है। इसलिए चन्द्रमा एक युग में सूर्य से जितनी बार युति करता है, उतने ही चान्द्र मास होते हैं। एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक सावन दिन होता है। जितने काल में आकाश में सूर्य एक अंश चलता है अर्थात् जितने समय में पृथ्वी सूर्य के चारों ओर एक अंश घूमती है, वह सौर दिन है। फिर जितने काल में चन्द्रमा सूर्य से 12 अंश आगे निकल जाता है, उसे चान्द्र दिन अथवा तिथि कहते हैं और जितने समय में पृथ्वी अपनी धुरी पर एक बार घूमती है, वह नाक्षत्र दिन है।

नित्य-नैमित्तिक एवं धार्मिक कार्यों के लिए अधिमास एवं क्षयमास की गणना भी महत्वपूर्ण समझी जाती है। आर्यभट ने इसकी गणना से सम्बन्धित विधि भी दी है:-

'अधिमासका युगे ते रविमासेभ्योऽधिकास्तु ये चान्द्राः।
शशिदिवसा विज्ञेया भूदिवसोनास्तिथि प्रलयाः॥' (आर्य०3.6)

अर्थात् '(महा) युग में सौर मासों की अपेक्षा चान्द्र मास जितना अधिक होते हैं, (महा) युग में उतने ही अधिमास होते हैं। चान्द्र दिनों की संख्या सावन दिनों से जितनी अधिक होती है, उतनी ही क्षयतिथियाँ हैं।' यह विदित है कि चान्द्र मास एक अमावस्या से दूसरी अमावस्या तक होता है और सौर मास एक संक्रान्ति से दूसरी संक्रान्ति तक। चान्द्रमास सौर मास से कुछ छोटा होता है। इसलिए चान्द्र मास का प्रारम्भ सौर मास के प्रारम्भ से कुछ पहले होने लगता है। धीरे-धीरे जब यह अन्तर इतना हो जाता है कि एक अमावस्या और दूसरी अमावस्या के बीच कोई संक्रान्ति न पड़े तब यह महीना अधिमास कहलाता है। ऐसा लगभग तैंतीस महीने के बाद होता है। इस तरह सौर मासों की संख्या से महायुग में चान्द्रमासों की संख्या जितनी अधिक होती है, उतने ही अधिमास होते हैं। इसी प्रकार एक तिथि का औसत काल एक सावन दिन से कुछ कम होता है। सूर्योदय के समय जो तिथि होती है, यदि सूर्योदय के कुछ काल बाद समाप्त हो जाय तथा दूसरी तिथि अगले सूर्योदय के पहले ही समाप्त हो जाये तो यह तिथि क्षय तिथि होती है। इस तरह महायुग में चान्द्र दिनों अर्थात् तिथियों की संख्या सावन दिनों की संख्या से जितनी अधिक होती है, उतनी ही क्षय तिथियाँ होती हैं।

इस तरह एक महायुग में सूर्य-वर्षों की संख्या = 43,20,000, चान्द्र मासों की संख्या = चान्द्रभगण-सूर्य-भगण = 5775336-43,20,000 = 53433336। सावन दिनों की संख्या = पृथ्वी का आवर्त्त-रवि-भगण = 1582237500-43,20,000 = 1577917500। नाक्षत्रदिनों की संख्या = पृथ्वी का आवर्त्त = 1582237500। सौर मासों की संख्या = 12X43,20,000 = 51840000। अधिमासों की संख्या = 5343336-51840000 = 1593336। चान्द्र दिनों की संख्या = 30×चान्द्रमास = 1603000080। क्षय तिथियों की संख्या = 1603000080-1577917500 = 25082580।

इस तरह एक वर्ष = $\frac{1577917500}{43,20,000}$ दिन = 365.2586805 दिन।

= 365 दिन 6 घंटे 12 मिनट 29.64 सेकेंड अथवा 365 दिन 15 घटी 31 पल 15 विपल।

लेकिन सूर्य-सिद्धान्त एंव खंड-खाद्यक के अनुसार,

एक वर्ष = 365 दिन 6 घंटे 12 मिनट 36 सेकेंड अथवा 365 दिन 15 घटी 31 पल 31 विपल 24 प्रतिपल।

निम्नलिखित सारणी से ज्ञात होता है कि आर्यभट द्वारा दिए गए विभिन्न ग्रहों के भगणों की संख्या (आर्य०1.3) किस तरह सूर्य-सिद्धान्त एवं ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त में दी गयी भगण-संख्या से भिन्न है:-

ग्रह	आर्यभटीय	सूर्य-सिद्धान्त	ब्रा०स्फु०सि०
सूर्य	43,20,000	43,20,000	43,20,000
चन्द्रमा	57753336	57753336	57753300
पृथ्वी	1582237500	-	-
मंगल	2296824	2296832	2296828.522
बुध	सूर्य के तुल्य	17937060	17936998.984
वृहस्पति	364224	364220	364226.455
शुक्र	सूर्य के तुल्य	7022376	7022389.492
शनि	146564	146568	146567.298
चन्द्रोच्च	488219	488203	488105.858
शुक्रशीघ्रोच्च	70222388	-	-
बुधशीघ्रोच्च	17937020	-	-
चन्द्रपात	232226	-	-

मंगल, वृहस्पति और शनि के शीघ्रोच्च सूर्य के भगण के तुल्य हैं।

फिर आर्यभट ने वार्हस्पत्य वर्ष की भी परिभाषा निम्न रूप में दी है:-

'स्वोच्चभगणा: स्वभगणै र्विशेषिता: स्वोच्चनीच परिवर्त्ता:।

गुरूभगणा राशिगुणास्त्वाश्वयुजाद्या गुरोरब्दा:॥' (आर्य० 3.4)

अर्थात् 'वृहस्पति की भगण-संख्या को 12 से गुणा करने पर आश्वयुज इत्यादि वार्हस्पत्य वर्ष कहते हैं।' वृहस्पति एक राशि में लगभग एक वर्ष रहते हैं। अतएव जितने काल तक वे एक राशि में रहते हैं उसे वार्हस्पत्य वर्ष कहते हैं। आर्यभट के अनुसार एक महायुग में वृहस्पति की भगण-संख्या 364224 है। इसलिए वार्हस्पत्य वर्षों की संख्या = 12×364224

= 4370688। चूँकि रवि वर्षो की संख्या = 43,20,000। इसलिए इतने वर्षों में 50688 वार्हस्पत्य वर्ष अधिक होते हैं।

इसके अतिरिक्त आर्यभट ने महायुग को भी दो भागों –उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी में विभाजित किया है:-

'उत्सर्पिणी युगार्धं पश्चादवसर्पिणी युगार्धं च।' (आर्य० 3.81/2)

महायुग का यह विभाजन धार्मिक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण समझा जाता है क्योंकि ऐंसी मान्यता है कि उत्सर्पिणी काल में मनुष्यों में धर्म एंव यश की वृद्धि होती है तथा अवसर्पिर्ण काल में इसका ह्रास होता है।

आर्यभटीय (3.11) में उन्होंने घोषणा की है, कि युग, वर्ष, मास, दिवस ये सभी एक ही समय चैत्रशुक्ल प्रतिपदा से आरम्भ होते हैं जिससे इस बात की पुष्टि होती है कि विक्रम संवत चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से ही आरम्भ हुआ। यही कारण है कि इस तिथि से अभी भी वर्षारम्भ माना जाता है। साथ ही उन्होंने (आर्य० 3.16 में) सात होराओं के स्वामी एवं दिनपति की भी चर्चा की है जिस आधार पर मासपति एवं वर्षपति भी जाने जाते हैं। ब्रह्मगुप्त ने आर्यभट के इस सिद्धान्त का भी खंडन किया है, पर उनकी आलोचना युक्ति संगत नहीं है। इस तरह आर्यभट ने काल-गणना सम्बन्धी युक्तिमूलक एवं वैज्ञानिक सिद्धान्तों का निरूपण किया। इनमें से कुछ श्रुति-स्मृति सम्मत नहीं है जिसके कारण कुछ परवर्त्ती भारतीय विद्वानों ने उनकी कटु आलोचना भी की, पर युक्तिसंगत होने के कारण उनके सिद्धान्तों के अनुयायी पुरातन काल से अद्यावधि पाए जाते हैं।

4.3 क्षेत्र (आकाश)-माप : 'आकाशीय पिंडों, ग्रहों एवं असंख्य ताराओं से काल-निर्धारण किया जा सकता है'-आर्यभट के इस कथन (आर्य० 3.11) से इस तथ्य की ओर संकेत मिलता है कि ग्रहों एवं ताराओं से भरे इस विस्तृत आकाश का वर्षों तक आर्यभट ने निरीक्षण किया तथा तदनुकूल सिद्धान्तों की स्थापना की। दो ग्रहों अथवा ताराओं के बीच की दूरी, ग्रहों के व्यास आदि आकाशीय पिंडों की दूरियों की माप के लिए लम्बाई की इकाई का ज्ञान होना आवश्यक है। इसी उद्देश्य से आर्यभट ने विभिन्न इकाइयों की चर्चा की है। आर्यभटीय के दशगीतिकापाद की आठवीं आर्या के अन्तिम भाग 'स्थाङ्गुलो घ हस्तोना' तथा सातवीं आर्या के आदि भाग 'नृषि योजनं' के अनुसार 96 (स्च = 90+6) अंगुली अथवा 4(घ = 4) हाथ का नर अथवा पुरूष (की ऊँचाई) होता है तथा 8000 (षि = 8000) नर (= नृ)(की ऊँचाई) के बराबर योजन होता है। फलत: 4 हस्त = 96 अंगुली अथवा 1 हस्त = 24 अंगुली और 8000x मनुष्य की ऊँचाई = 1 योजन। चूँकि 1 हाथ = $1\frac{1}{2}$ फीट $\therefore$ 4 हाथ = 6 फीट। $\therefore$ 1 योजन = 8000×4 हाथ = $\frac{8000\times6}{3\times1760} = 9\frac{1}{11}$ मील। योजन की माप भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न मानी गयी

है, जो 5 मील से 10 मील के बराबर है, पर आर्यभट के अनुसार यह $9\frac{1}{11}$ मील के बराबर है। उन्होंने विभिन्न ग्रहों के व्यास की माप योजन में दी है। उनके अनुसार (आर्य०1.8) पृथ्वी का व्यास 1050 योजन है, सूर्य का 4410 योजन, चन्द्रमा का 315 योजन तो मेरू 1 योजन है। शुक्र, वृहस्पति, बुध, शनि एवं मंगल के व्यास क्रमश: चन्द्रमा के व्यास का $\frac{1}{5}$ (= 63), $\frac{1}{10}$ (= 31.50), $\frac{1}{15}$ (= 21.00), $\frac{1}{20}$ (= 15.75) तथा $\frac{1}{25}$ (= 12.60) के बराबर हैं।

ग्रहों की कोणीय दूरियों की माप की इकाई भी उन्होंने निम्नलिखित रूप में दी है:-

'शशि राशयष्ठ चक्रंतेऽशकलायोज नानि य न व गुणा:।' (आर्य० $1.5\frac{1}{2}$)

अर्थात् 'चन्द्रमा की भगण-संख्या को 12 (= ठ) से गुणा करने पर राशियों की संख्या प्राप्त होती है। इस संख्या को 30 (= य) से गुणा करने पर अंश मिलते हैं। अंशों की संख्या को 60 (= व) से गुणा करने पर कलाओं की संख्या होती है तथा इस संख्या को 10(= ञ) से गुणा करने पर आकाश का कक्ष्यमान योजन में प्राप्त होता है।' अर्थात् एक महायुग में चन्द्रमा की 12 भगण संख्या = 1 राशि,

30 राशि = 1 अंश
60 अंश = 1 कला
10 कला = 1 योजन

इस तरह आकाश का कक्ष्यामान

= 10×60×30×12 चन्द्रमा की भगण-संख्या
= 216000×57753336 योजन
= 12474720576000 योजन

आकाश को विभाजित करने के लिए उन्होंने काल-विभाजन की विधि ही अपनायी है। उनका कथन है-'एवं काल विभाग: क्षेत्र विभागस्तथा भगणात्' (आर्य० 3.2) अर्थात् 'जैसे वर्ष से प्रारम्भ करके काल के विभाग हैं, उसी तरह भगण से प्रारम्भ करके क्षेत्र (आकाश) के विभाग हैं और दोनों में समानता है।' इस तरह कोणीय इकाइयाँ निम्नलिखित हैं:-

60 तत्पर = 1 विकला,
60 विकला = 1 कला,
60 कला = 1 अंश,
30 अंश = 1 राशि,
12 राशि = 1 भगण।

इन इकाइयों का प्रयोग उन्होंने ज्योतिष के विभिन्न मानों को ज्ञात करने के लिए किया है।

क्रान्ति वृत्त से भिन्न-भिन्न ग्रहों के विक्षेपों के मान निम्नलिखित सारणी (आर्य० 1.8) से ज्ञात होते हैं। यहाँ तुलनात्मक अध्ययन के उद्देश्य से ब्रा०स्फु०सि० तथा सूर्य-सिद्धान्त में वर्णित इन मानों को आधुनिक मान के साथ दर्शाया गया है:-

ग्रह	आर्यभटीय	ब्रा०स्फु०सि०	सूर्य-सिद्धान्त	आधुनिक मान
शनि	2^0	$2^0 10'$	2^0	$2^0 29' 25''$
वृहस्पति	1^0	$1^0 16'$	1^0	1'18'21"
शुक्र	2^0	$2^0 16'$	2^0	$2^0 23' 39''$
मंगल	$1^0 30'$	$1^0 50'$	$1^0 30'$	$1^0 51' 0''$
बुध	2^0	$2^0 32'$	2^0	$7^0 0' 14''$
चन्द्रमा	$4^0 30'$	$4^0 30'$	$4^0 30'$	$5^0 8' 40''$

ग्रहों के मंद वृत्तों एवं शीघ्र वृत्तों की परिधियों के लिए निम्नलिखित सारणियाँ हैं (आर्य० 1.10-11) :-

(क) ग्रहों के मन्दवृत्तों की परिधियाँ

ग्रह	आर्यभटीय		ब्रा0स्फु0सिद्धान्त		सूर्य-सिद्धान्त	
	विषम पद	युग्म पद	विषम पद	युग्म पद	विषम पद	युग्म पद
चन्द्रमा	$31^0 30'$	$31^0 30'$	$31^0 36'$	$31^0 36'$	$31^0 40'$	32^0
सूर्य	$13^0 30'$	$13^0 30'$	$13^0 40'$	$13^0 40'$	$13^0 40'$	14^0
बुध	$31^0 30'$	$22^0 30'$	38^0	38^0	28^0	30^0
शुक्र	18^0	9^0	9^0	11^0	11^0	12^0
मंगल	63^0	81^0	70^0	70^0	72^0	75^0
वृहस्पति	$31^0 30'$	36^0	33^0	33^0	32^0	33^0
शनि	$40^0 30'$	$58^0 30'$	30^0	30^0	48^0	49^0

(ख) ग्रहों के शीघ्रवृत्तों की परिधियाँ

ग्रह	आर्यभटीय (विषम पद)	आर्यभटीय (युग्म पद)	ब्रा0स्फु0सिद्धान्त (विषम पद)	ब्रा0स्फु0सिद्धान्त (युग्म पद)	सूर्य-सिद्धान्त (विषम पद)	सूर्य-सिद्धान्त (युग्म पद)
शनि	$40^0 30'$	36^0	35^0	35^0	40^0	39^0
वृहस्पति	72^0	$67^0 30'$	68^0	68^0	72^0	70^0
मंगल	$238^0 30'$	$229^0 30'$	$243^0 40'$	$243^0 40'$	232^0	235^0
शुक्र	$265^0 30'$	$256^0 30'$	263^0	258^0	260^0	262^0
बुध	$139^0 30'$	$130^0 30'$	132^0	132^0	132^0	133^0

(ग) ग्रहों के पातों एवं मन्दोच्चों की स्थितियों के सम्बन्ध में निम्नलिखित विवरण है (आर्य0 1.9):

ग्रह	पात	मन्दोच्च
सूर्य	5	78^0
बुध	20^0	210^0
शुक्र	60^0	90^0

मंगल	40^0	118^0
वृहस्पति	80^0	180^0
शनि	100^0	236^0

4.4 **ग्रह एवं उसकी गति :** अन्य भारतीय खगोलवेत्ताओं की तरह आर्यभट ने भी सात ग्रहों की बार-बार चर्चा की है जिनके नाम हैं चन्द्रमा, बुध, शुक्र, सूर्य, मंगल, वृहस्पति एवं शनि। इन ग्रहों के साथ-साथ उन्होंने मन्दोच्च, शीघ्रोच्च एवं चन्द्रोच्च का भी विवरण दिया है। उन्हें ग्रहों एवं आकाश में स्थित विभिन्न ताराओं की स्थिति का ज्ञान था जिससे यह अनुमान्य हैकि उन्होंने अपने पास उपलब्ध यंत्रों से आकाशीय पिंडों का निरीक्षण किया था। निम्नलिखित सूत्र से यह तथ्य प्रमाणित होता है कि उन्हें विभिन्न ग्रहों की स्थितियों की ठीक-ठीक जानकारी थी:-

'भानामधश्शनैश्चरसुरगुरूभौमार्कशुक्रबुधचन्द्राः।
तेषमाधश्च भूमिर्मेधीभूता खमध्यस्था।।' (आर्य० 3.15)

अर्थात् 'नक्षत्रों के नीचे शनि है, उसके नीचे क्रम से वृहस्पति, मंगल, सूर्य, शुक्र, बुध तथा चन्द्रमा हैं। सबसे नीचे पृथ्वी खमध्य में स्तम्भ की तरह स्थित है।' इससे यह प्रमाणित होता है, कि पृथ्वी के सबसे निकट चन्द्रमा है और अन्य ग्रह इसी क्रम में पृथ्वी से अधिक दूरी पर हैं। साथ ही उन्होंने सातों ग्रहों को सात दिनों का स्वामी घोषित किया है (आर्य०3. 16) जिसके अनुसार शनि आदि ग्रह शीघ्रता के क्रम में सात होराओं के स्वामी होते हैं। इसी शीघ्रता के क्रम में चौथे सूर्योदय से दिन पति होते हैं। यह अब निर्विवाद रूप से मान लिया गया है कि आर्यभट सर्वप्रथम भारतीय ज्योतिषविद् हैं जिन्होंने ग्रहों की गति अथवा ताराओं के बीच घूमनेवाले पिंडों के सम्बन्ध में अपनी नयी विचाराधारा स्थापित की। सूर्य-सिद्धान्त को छोड़कर आर्यभट से पूर्व अन्य किसी प्राचीन ज्योतिष-ग्रंथ में इस मौलिक धारणा की संपुष्टि नहीं होती है। वह सूर्य-सिद्धान्त भी वराहमिहिर द्वारा संशोधित एवं परिवर्द्धित है। अत: आर्यभट ने इस दृष्टिकोण से ग्रह-गति की नीचोच्च वृत्त-रचना की एक नयी परम्परा स्थापित की जिसके कारण कुछ विद्वानों (खासकर पी०सी०सेन गुप्ता) ने उन्हें भारतीय नीचोच्च सम्बन्धी ज्योतिष (Epicyclic astronomy) का जनक कहा है। फिर आर्यभट ने मंदोच्च, शीघ्रोच्च, मंद-फल एवं शीघ्र-फल के सम्बन्ध में भी वैज्ञानिक रूप से विचार किया है जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उनका कथन है:-

'कक्ष्या प्रतिमण्डलगा भ्रमन्ति सर्वे ग्रहा: स्वचारेण।
वृत्तपरिधौ ग्रहास्ते मध्यमचारं भ्रमन्त्येव।।' (आर्य० 3.17-19)

अर्थात् 'प्रत्येक ग्रह अपनी मध्यम गति से कक्ष्यामंडल और प्रतिमंडल पर घूमता है अथवा मध्यम ग्रह कक्ष्या मंडल पर तथा स्फुट ग्रह प्रतिमंडल पर मध्यगति से चलते हैं। वे मंदोच्च से अनुलोम गति से अर्थात् पूर्वाभिमुख और शीघ्रोच्च में प्रतिलोम गति से अर्थात् पश्चिमाभिमुख चलते हैं। ग्रह की पूर्वाभिमुख गति मन्दोच्च से अधिक होती है। अत:

मन्दोच्च की अपेक्षा वे पूर्व की ओर चलते हैं, परन्तु शीघ्रोच्च पूर्व की ओर ग्रहों की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से चलता है। अत: उसकी अपेक्षा ग्रह पश्चिम की ओर चलते प्रतीत होते हैं। ग्रहों का प्रतिमंडल उनमें प्रत्येक के कक्ष्यामंडल के तुल्य होता है किन्तु प्रतिमंडल का केन्द्र ठोस पृथ्वी के केन्द्र से भिन्न होता है। ग्रह के प्रतिमंडल के केन्द्र तथा पृथ्वी के केन्द्र का अन्तर उनके नीचोच्च वृत्त के व्यासार्ध के तुल्य होता है। नीचोच्च वृत्त की परिधि पर ग्रह मध्यम गति से चलते हैं।

फिर आर्यभटीय, काल क्रियापाद के 20-25 श्लोकां में नीचोच्च वृत्त (Epicycles) सम्बन्धी अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है तथा विशद रूप से उनकी विवेचना की गयी है। ग्रहों के नीचोच्च एवं मन्दोच्च वृत्त पर गति, मंदोच्च एवं शीघ्रोच्च की गति, मन्दफल एवं शीघ्रफल ज्ञात करने की विधि आदि सिद्धान्तों का भी निरूपण किया गया है। आर्यभटीय, कालक्रियापाद के 10वें एवं 11वें श्लोकों में मंगल, वृहस्पति, बुध, शुक्र, चन्द्रमा एवं शनि ग्रहों के मन्द वृत्त एवं शीघ्र वृत्त की परिधियों को निकालने की विधियाँ भी दी गयी हैं। इन बातों से इस तथ्य की पुष्टि होती है, कि उन्होंने नीचोच्च वृत्त सम्बन्धी सिद्धान्तों का निरूपण कर परवर्त्ती ज्योतिषविदों को इस दिशा में प्रेरणा प्रदान की है। भास्कर प्रथम, लल्ल, ब्रह्मगुप्त, भास्कर द्वितीय आदि विद्वानों ने इसमें बीज-संस्कार कर भारतीय ज्योतिष को अधिक वैज्ञानिक एवं श्रृंखलावद्ध बनाने का प्रयास किया है।[2]

4.5 **पृथ्वी एवं उसके विभिन्न पहलू :** अति प्राचीन काल से ही पृथ्वी एवं उससे सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं के रहस्योद्घाटन की दिशा में मानव द्वारा प्रयास किया जाता रहा है। इसके आकार, इसकी स्थिति, इसके ऊपरी सतह तथा नीचे का सतह, सूर्य, चन्द्रमा आदि ग्रहों की गति में इसका स्थान आदि अन्यान्य तथ्यों के सम्बन्ध में हमारे प्राचीन साहित्य में विवरण पाया जाता है। आर्यभट ने तत्सम्बन्धी प्रचलित धारणाओं का अवलोकन किया। जो तथ्य वैज्ञानिक नहीं जँचे, उन्हें त्याग कर नए सिद्धान्तों का उन्होंने अन्वेषण किया। ऐसे कुछ सिद्धान्तों का विवरण निम्नलिखित है:-

(क) पृथ्वी का आकार : पृथ्वी के आकार के सम्बन्ध में उन्होंने घोषणा की है कि वह पूर्णत: ग्लोब है-'भूगोल: सर्वतो वृत्त:' (आर्य० 4.6)। यह चारों ओर से गोल है। यह दर्पण की भाँति गोल नहीं है, गेंद की भाँति, कदम्ब के पुष्प की भाँति गोल है। आर्यभटीय के गोलपाद की सातवीं आर्या में उन्होंने कहा है कि 'जिस प्रकार कदम्ब के फूल की ग्रंथि चारों ओर से छोटे कुसुमों से व्याप्त रहती है, उसी प्रकार पृथ्वी का गोला जल में या स्थल पर पैदा होने वाले सब प्राणियों से व्याप्त है। 'चूँकि पृथ्वी गोल है, इसलिए पृथ्वी के सभी स्थानों पर एक ही समय सूर्योदय नहीं होता। इस सम्बन्ध में (आर्य० गोलपाद तरहवें श्लोक में) उनका कहना है कि 'जब लंका में सूर्योदय होता है, उस समय सिद्धपुर में सूर्यास्त होता है। उसी समय यव कोटि में दोपहर तथा रोमक में आधी रात होती है।' भारतीय ज्योतिषविदों के अनुसार लंका तथा सिद्धपुर एक ही याम्योत्तर रेखा पर पृथ्वी के धरातल

पर आमने-सामने हैं। अतएव दोनों के समयों में 12 घंटे का अन्तर होता है। एक पर जब सूर्योदय तब दूसरे पर सूर्यास्त और जब एक पर दोपहर तब दूसरे पर अर्धरात्रि होती है। यवकोटि लंका से 90^0 पूर्व और रोमक लंका से 90^0 पश्चिम में हैं और लंका से इनका समयान्तर 6 घंटे का होता है। लंका के सम्बन्ध में आर्यभट का मंतव्य है (आर्य० गोलपाद 14)-'स्थल और जल के बीच में अर्थात् मेरू तथा बड़वामुख के मध्य में पृथ्वी की कक्ष्या के चतुर्थ भाग अर्थात् मेरू तथा बड़वामुख से 90^0 क्रमशः दक्षिण और उत्तर में लंका नगरी है। उसके चौथाई भाग पर अर्थात् $22\frac{1}{2}^0$ पर लंका से ठीक उत्तर दिशा में उज्जयिनी है।'

भारतीय ज्योतिष-ग्रंथों में लंका को एक महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है, जो विषुवत रेखा पर अवस्थित है, जिसके अक्षांस एवं देशांतर शून्य हैं और यह इस तरह वर्त्तमान लंका जो विषुवत रेखा से 6^0 उत्तर है, से भिन्न है। सम्भवतः यह लंका समुद्र के अन्तराल में समाहित हो गया है। उपरोक्त बातों से स्पष्ट है कि आर्यभट के अनुसार पृथ्वी गोल है। सूर्य-सिद्धान्त जैसे दूसरे प्राचीन ज्योतिष-ग्रंथों में भी पृथ्वी का आकार गोलाकार ही माना गया है।[3]

(ख) पृथ्वी की स्थिति : भारतीय धार्मिक ग्रंथों के अनुसार पृथ्वी शेष नाग, कच्छप अथवा दिग्गज हाथी द्वारा आश्रित है, पर ज्योतिर्विदों ने इस धारणा को गलत सिद्ध किया। उनके अनुसार पृथ्वी गोल है, आकाश के बीच स्थित है जो किसी आधार पर आश्रित नहीं है। आर्यभट ने इस सम्बन्ध में अपना मंतव्य घोषित किया है:-

'वृत्तभपञ्जरमध्ये कक्ष्यापरिवेष्टितः खमध्यगतः।
मृज्जलशिखिवा युमयो भूगोलः सर्वतो वृत्तः॥' (आर्य० 4.6)

अर्थात् 'वृत्ताकार नक्षत्रमंडल के मध्य में ग्रहों की कक्ष्याओं से परिवेष्टित आकाश के मध्य में पृथ्वी का गोला स्थित है। यह चारों ओर से गोल है तथा मिट्टी, जल, अग्नि एवं वायुमय है।' इस कथन से इस बात की जानकारी होती है कि आर्यभट को लघुग्रह स्पष्ट (geocentric) सिद्धान्त में विश्वास था। इस तथ्य की पुष्टि इस कथन (आर्य०3.15) से भी होती है कि 'नक्षत्रों के नीचे शनि है, उसके नीचे क्रम से वृहस्पति, मंगल, सूर्य, शुक्र, बुध तथा चन्द्रमा हैं। सबसे नीचे पृथ्वी खमध्य में स्तम्भ की तरह स्थित है।' खमध्य में स्थित होने का अर्थ है कि पृथ्वी किसी आधार पर स्थित नहीं है, अपितु निराधार है। यहाँ एक और महत्वपूर्ण बात है कि आर्यभट ने पृथ्वी को केवल चार महाभूतों-मिट्टी, जल, अग्नि एवं वायु से बना माना है जहाँ अन्य भारतीय ज्योतिषियों ने पाँचवें महाभूत आकाश का भी उल्लेख किया है। पृथ्वी की स्थिति के सम्बन्ध में वराहमिहिर ने भी आर्यभट द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त को ही अपनाया है पर चार की जगह पाँच महाभूतों की चर्चा की है। उनका कहना है,'पृथ्वी का गोला जो पंच महाभूतों का बना है, आकाश में तारामंडल के मध्य में वैसे ही स्थित है जैसे लोहे का टुकड़ा चुम्बकों के बीच में निराधार

स्थित रह सकता है।[4]

आर्यभट के कथन 'कक्ष्या परिवेष्टित:' से इस तथ्य की ओर भी संकेत मिलता है कि उन्हें पृथ्वी की आकर्षण शक्ति का भी ज्ञान था जिससे पृथ्वी आकाश की अन्य वस्तुओं को अपने केन्द्र की ओर आकर्षित करती है। भास्कर द्वितीय (12वीं शताब्दी) ने तो स्पष्ट रूप से 'आकृष्ट शक्ति' का प्रयोग किया है[5]। इस तरह भारतीय वैज्ञानिकों को न्यूटन से बहुत पूर्व ही पृथ्वी की आकर्षण शक्ति का ज्ञान हो गया था।

इसके अतिरिक्त आर्यभट ने लघु ग्रह मन्द स्पष्ट सिद्धान्त (heliocentric) का भी आर्यभटीय, गोलपाद, श्लोक सात में उल्लेख किया है। 'जिस प्रकार कदम्ब के फूल की ग्रंथि चारों ओर से छोटे कुसुमों से व्याप्त रहती है, उसी प्रकार पृथ्वी का गोला जलज एवं स्थलज प्राणियों से व्याप्त है।' अभी तक यही माना जाता रहा है कि इस सिद्धान्त की खोज 16वीं शती में कोपर्निकस ने की है, पर आर्यभट ने इसका आविष्कार उनसे 1000 वर्ष पूर्व ही किया था। अत: उन्हें ही इस सिद्धान्त के अन्वेषण की प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए।

(ग) पृथ्वी के वायुमंडल की ऊँचाई : पृथ्वी के वायुमंडल की ऊँचाई आर्यभटीय की दशगीतिकापादकी ग्यारहवीं आर्या के आधार पर निर्धारित की जा सकती है जहाँ यह कहा गया है कि 'भूवायु कक्ष्या का मान 3375 योजन है।' आर्यभट के अनुसार पृथ्वी का व्यास 1050 योजन है तथा वायुमंडल सहित पृथ्वी का व्यास = $3375 \times \frac{20000}{62832}$ योजन

= 1074.29 = 1074 निकटतम योजन ($\because \pi = \frac{62832}{20000}$)

∴ वायुमंडल की ऊँचाई (पृथ्वी के सतह से

= $\frac{1074-1050}{2}$ योजन निकटत:

= 12 योजन = 109 मील।

लल्ल, भास्कर द्वितीय आदि परवर्त्ती विद्वानों ने भी वायुमंडल की ऊँचाई (अथवा गहराई) का मान इतना ही दिया है।[6] इसका आधुनिक मान 45 से 100 मील तक है। इसी तरह आधुनिक गणना से पृथ्वी का व्यास 7918 मील है जहाँ भारतीय गणनानुसार 7905 मील है जब एक योजन $9\frac{1}{11}$ मील के बराबर है।

(घ) पृथ्वी एवं चन्द्रमा : आजकल चन्द्रमा पृथ्वी का एक उपग्रह माना जाता है, पर भारतीय खगोल वेत्ताओं ने चन्द्रमा को एक ग्रह माना है तथा पृथ्वी को छोड़कर चन्द्रमा सहित सात ग्रहों का उल्लेख किया है। आर्यभट ने (आर्य० 3.15) ग्रहों को जिस क्रम में रखा है, तदनुकूल पृथ्वी के सबसे निकट का ग्रह चन्द्रमा है। साथ ही (आर्यभटीय, 4.6से) यह भी ज्ञात होता है, कि पृथ्वी अन्य ग्रहों की कक्ष्याओं के साथ चन्द्रमा की कक्ष्या से

भी परिवेष्टित है। सूर्य-ग्रहण के वैज्ञानिक कारण की विवेचना करते समय (आर्य० 4.37) आर्यभट ने चन्द्रमा के सम्बन्ध में कहा है कि चन्द्रमा जल का बना है, सूर्य अग्नि का बना है तथा पृथ्वी मिट्टी की बनी है। साथ ही उन्होंने सूर्य-ग्रहण का कारण पृथ्वी एवं सूर्य के बीच चन्द्रमा का ही रहना माना है। हम ने (आर्य० 1.7 में) देखा है कि पृथ्वी का व्यास = 1050 योजन तथा चन्द्रमा का व्यास= 315 योजन। फलत: पृथ्वी का व्यास = चन्द्रमा के व्यास का $\frac{10}{3}$। इन दोनों व्यासों का अनुपात आधुनिक अनुपात के बहुत ही निकट है। अत: आर्यभट की यह बहुत बड़ी उपलब्धि है।

(ङ) पृथ्वी की दैनिक गति : आर्यभट सम्भवत: विश्व के सर्वप्रथम वैज्ञानिक हैं जिन्होंने भू-भ्रमण का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उन्होंने प्राचीन परम्परा के विरुद्ध यह घोषणा की कि पृथ्वी स्थिर नहीं है, अपने अक्ष पर पश्चिम से परब की ओर 24 घंटे में घूम जाती है। विभिन्न ग्रहों की भगण-संख्या की चर्चा करते हुए (आर्य० 1.3) उन्होंने कहा है कि पृथ्वी एक महायुग में अपने अक्ष पर 1582237500 बार घूम जाती है तथा 'प्राणेनैति कलां भू:' (आर्य० 1.6) के अनुसार एक प्राण के तुल्य कालान्तर में एक कला घूमती। इस महत्त्वपूर्ण एंव क्रान्तिकारी सिद्धान्त को प्रमाणित करने के लिए उन्होंने एक उदाहरण भी प्रस्तुत किया है:-

'अनुलोमगतिर्नौस्थ: पश्यत्यचलं विलोमगं यद्वत्।
अचलानि भानि तद्वत् समपश्चिमगानि लङ्कायाम्।।' (आर्य० 4.9)

अर्थात् 'जैसे नाव में बैठा हुआ कोई मनुष्य जब पूर्व दिशा में जाता है,तब तीर की अचल वस्तुओं को उल्टी दिशा में जाता हुआ अनुभव करता है, उसी तरह अचल तारागण लंका में पश्चिम की ओर जाते प्रतीत होते हैं।' इससे यह भी स्पष्ट होता है कि आर्यभट ने पृथ्वी की दैनिक गति के सिद्धान्त को निर्धारित किया। आज से 1500 वर्ष पहले जब वेध-साधन के लिए ने तो कोई उन्नत वेधशाला थी और न उन्नत यंत्र ही, वैसे समय में आर्यभट ने अपनी बुद्धि से शोधकर उस सत्य का रहस्योद्घाटन किया जिसकी खोज 16वीं शताब्दी में कोपर्निकस ने सारी सुविधाओं के रहते की। ज्योतिषशास्त्र में यह अन्वेषण उनकी महत्तम उपलब्धि है। स्मृति-पुराण सम्मत नहीं होने के कारण इस सिद्धान्त को परवर्त्ती भारतीय खगोलवेत्ताओं यथा, ब्रह्मगुप्त, वराहमिहिर, लल्ल आदि ने सिर्फ स्वीकार ही नहीं किया, बल्कि इसकी कटु आलोचना भी की। शायद यहाँ की सामाजिक एवं धार्मिक सहिष्णुता के कारण ही अपने इस क्रांतिकारी सिद्धांत के लिए आर्यभट को ऐसी कोई सजा नहीं भुगतनी पड़ी जैसी अनेक शताब्दियाँ पश्चात् जिओर्गनो ब्रूनो, कोपर्निकस और गैलिलियो को मध्यगीन यूरोप में भुगतनी पड़ी थी।

(च) पृथ्वी की वार्षिक गति : आर्यभटीय के विभिन्न स्थलों के अवलोकन से यह

प्रमाणित होता है कि आर्यभट को पृथ्वी की वार्षिक गति में विश्वास था। उनका कथन द्रष्टव्य है:-

'ताराग्रहेन्दुपाता भ्रमन्त्यजस्रमपमण्डलेऽर्कश्च।
अर्काच्च मण्डलार्धे भ्रमति हि तस्मिन् क्षितिच्छाया।।' (आर्य० 4.2)

अर्थात् 'ताराग्रहों के पात, चन्द्रमा का पात एवं सूर्य सदा क्रांतिमंडल में घूमते हैं। सूर्य से आधे क्रांतिमंडल की दूरी पर उसी में पृथ्वी की छाया भी निश्चय घूमती है।' उन्होंने स्पष्ट रूप से (आर्य०4.6में) कहा है कि 'खमध्य गत:' -पृथ्वी आकाश के मध्य में घूमती है। इस तरह ऐसे अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि पृथ्वी ही सूर्य के चारों ओर घूमती है, न कि सूर्य पृथ्वी के चारों ओर इस आधुनिक आविष्कार की भी आर्यभट ने सैकड़ों वर्ष पूर्व ही परिकल्पना की, पर स्मृति-पुराण के विरूद्ध होने के कारण इस सिद्धान्त की भी परवर्त्ती विद्वानों ने आलोचना की। इस तरह पृथ्वी से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं पर विचार कर तथा तत्सम्बन्धी वैज्ञानिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर आर्यभट ने ज्योतिषशास्त्र को एक नयी दिशा दी।

4.6 ग्रहण-गणना : भारतीय परम्परा-श्रुति-संहिता-स्मृति के अनुसार असुर पुत्र राहु के कारण ही सूर्य-ग्रहण एवं चन्द्र-ग्रहण होते हैं, पर आर्यभट ने इसे स्वीकार नहीं किया। वेध द्वारा उन्होंने वैज्ञानिक कारणों का पता लगाया जिनका विवरण निम्नलिखित आर्या में दिया गया है:-

'चन्द्रो जलमर्कोऽग्निमृद् भूश्छायापि या तमस्तद्धि।
छादयति शशी सूर्यं शशिनं महती च भूच्छाया।।' (आर्य० 4.37)

अर्थात् 'चन्द्रमा जल का बना है, सूर्य अग्नि का बना है और पृथ्वी मिट्टी की बनी है और छाया अन्धकारमय है। (सूर्य-ग्रहण के अवसर पर) सूर्य को चन्द्रमा ढक लेता है और (चन्द्र-ग्रहण के अवसर पर) पृथ्वी की बड़ी छाया चन्द्रमा को ढक लेती है। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने ग्रहण के आधुनिक कारणों की कल्पना की। फिर उन्होंने उस स्थिति की चर्चा की है जब ग्रहण घटित होता है:-

'स्फुटशशिमासान्तेऽर्कं पातासन्नो यदा प्रविशतीन्दुः।
भूच्छाया पक्षान्ते तदाधिकोनं ग्रहणमध्यम्।।' (आर्य० 4.38)

अर्थात् 'जब चन्द्रमा स्फुट चान्द्रमास के अन्त में पात के समीप होता है, तब वह सूर्य में प्रवेश करता है तथा तब अधिकालिक अथवा कल्पकालिक सूर्य-ग्रहण का मध्य होता है। इसी प्रकार पक्ष के अन्त में जब चन्द्रमा पृथ्वी की छाया में प्रवेश करता है तब चन्द्र-ग्रहण होता है।' ज्योतिषी सर्वदा मास का प्रारम्भ अमावस्या के बाद से मानते हैं। इसलिए यहाँ कहा गया है कि सूर्य-ग्रहण मास के अन्त में अथवा अमावस्या को ओर चन्द्र-ग्रहण पक्ष के अन्त में अर्थात् शुक्ल पक्ष के अन्त में (पूर्णिमा को) होता है। जब चन्द्रमा पात के समीप अर्थात् ठीक पात पर होता है, तभी सूर्य, चन्द्रमा तथा पृथ्वी के केन्द्र एक रेखा में होते

हैं। उस स्थिति में जब चन्द्रमा की छाया पृथ्वी पर पड़ती है, तब सूर्य-ग्रहण होता है। तीनों के केन्द्र ठीक एक रेखा में हों, तो पूर्णग्रास सम्भव है। पृथ्वी से सूर्य और चन्द्रमा की दूरियाँ घटती-बढ़ती हैं। अतएव पृथ्वी से देखने पर कभी चन्द्र बिम्ब का मान सूर्य-बिम्ब के मान से अधिक और कभी कम होता है। पहली स्थिति में पूर्ण ग्रास और दूसरी स्थिति में मुद्रिका ग्रहण होता है अर्थात् सूर्य का बाहरी भाग दिखायी पड़ता है तथा केन्द्रीय भाग ग्रसित रहता है। जब चन्द्रमा पात के समीप हो, पर केन्द्र ठीक रेखा में न हों, तब खंडग्रास होता है। इसी प्रकार चन्द्रमा का पूर्ण ग्रास अथवा खंड ग्रास होता है, परन्तु मुद्रिका-ग्रास नहीं होता क्योंकि चन्द्रमा की कक्ष्या पर पृथ्वी की छाया का व्यास चन्द्रमा के व्यास से सर्वदा अधिक होता है।

इसके बाद आर्यभट ने पृथ्वी के केन्द्र से पृथ्वी की छाया की लम्बाई, स्थित्यर्ध काल, विमदर्धि काल, इष्टकाल में ग्रास, आक्षवलन, आयनवलन आदि अन्यान्य बातों से सम्बन्धित वैज्ञानिक सिद्धान्तों एवं सूत्रों की विवेचना की है। (द्रष्टव्य, आर्य० 4.37-48)। सूत्र (आर्य० 4.39) के अनुसार

पृथ्वी की छाया = पृथ्वी से सूर्य की दूरीxभू-व्यास / रवि व्यास - भूव्यास।
विभिन्न सूत्रों के प्रतिपादन के पश्चात् ग्रहों की भिन्न-भिन्न स्थितियों में चन्द्रमा के रंगों का भी उल्लेख किया गया है (आर्य० 4.46) - 'ग्रहण के प्रारम्भ और अन्त में चन्द्रमा का ग्रस्त भाग धूम्र अथवा धूएँ के रंग का, खंड ग्रहण में अथवा जब चन्द्रमा का कुछ अंश ग्रसित रहता है और कुछ भाग स्पष्ट रहता है, इसमें ग्रस्त भाग काला दिखता है। सर्व ग्रास में अर्थात् जब चन्द्रमा का कुल भाग पृथ्वी की छाया में प्रविष्ट कर जाता है, तब वह कपिल वर्ण का अर्थात् हल्की ललाई के साथ भूरे रंग का होता है और पूर्णतः छाया के बीच में वह गहरे लाल (अर्थात् ऐसा लाल जिसमें कुछ कालापन आ गया हो) वर्ण का होता है।'

फिर सूर्य-ग्रहण की विभिन्न स्थितियों के सम्बन्ध में भी निम्नलिखित विवरण प्रस्तुत किया गया है:-

'सूर्येन्दुपरिधियोगेऽर्काष्टमभागो भवत्यनादेश्यः।
भानोर्भासुरभावात् स्वच्छतनुत्वाच्च शशिपरिधेः।।' (आर्य० 4.47)

अर्थात् 'जब चन्द्रमा के द्वारा सूर्य का ग्रहण होता है, तब सूर्य के आठवें भाग के आच्छादित हो जाने तक यह नहीं प्रतीत होता कि सूर्य ग्रसित हो चुका है क्योंकि सूर्य का तेज बहुत अधिक है, चन्द्र बिम्ब अत्यन्त स्वच्छ अर्थात् पारदर्शी है। इस कारण जब अष्टांश ग्रसित हो जाय तब कहना चाहिए कि स्पर्श हुआ है और जब अष्टांश शेष रह जाये तब कहना चाहिए कि मोक्ष हो गया।'

ग्रहण-गणना सम्बन्धी सिद्धान्तों एवं ग्रहण-काल में सूर्य एवं चन्द्रमा की स्थितियों की उपरोक्त विवेचना से यह निश्चित होता है, कि आर्यभट ने स्वयं आकाशीय पिंडों का

निरीक्षण किया, ग्रहण सम्बन्धी वैज्ञानिक कारणों की खोज की तथा सिद्धान्तों का निरूपण किया। भास्कर प्रथम ने तो ग्रहण सम्बन्धी इन सिद्धान्तों की विशद व्याख्या महाभास्करीय (अध्याय 5.33-77) में की है तथा उनकी प्रामाणिकता को स्वीकार किया है। परवर्त्ती ज्योतिषविदों द्वारा भी परिवर्द्धित एवं परिशोधित रूप में ये सिद्धान्त अपनाए गए।

4.7 गोलीय ज्योतिष : आर्यभट ही सर्वप्रथम ऐसे भारतीय खगोलज्ञ हैं जिन्होंने गोलीय ज्योतिष सम्बन्धी सूत्रों की स्थापना की और इस तरह उन्होंने इस दिशा में भी एक नयी परम्परा आरम्भ की। इस उद्देश्य के लिए एक अक्ष-क्षेत्र (अक्षांश त्रिभुज) की परिकल्पना की गयी जिसकी सहायता से गोलीय त्रिभुज के हल निकाले जाते हैं तथा गोलीय ज्योतिष के विभिन्न सूत्र स्थापित किए जाते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने निम्नलिखित सिद्धान्त प्रतिपादित किया है:-

'दृग्गोलार्धकपाले ज्यार्धेन विकल्पयेद् भगोलार्धम्।
विषुवज्जीवाक्षभुजा तस्यास्त्ववलम्बक: कोटि:।।' (आर्य० 4.23)

अर्थात् 'दृश्य गोलार्ध भाग में अक्षज्या एवं लम्बज्या के द्वारा नक्षत्र मंडलीय गोलार्ध की कल्पना करनी चाहिए। अक्षज्या खमध्य एवं विषुवस्थित मध्याह्नकालिक रवि के बीच के कोण की ज्या के तुल्य होती है तथा अभिलम्ब अक्ष कोटिज्या के तुल्य होता है। इसे निम्नांकित ज्यामितीय आकृति से स्पष्ट किया जा सकता है:-

यहाँ दृग्गोलार्ध खींचा गया है। इसमें क द्रष्टा की स्थिति, ज खमध्य, अ और ब उत्तर-दक्षिण दिशाएँ, ग ध्रुव तथा स,क विषुवत रेखा है। क,घ शंकु है और घ,च उसकी छाया है। बसन्त (अथवा शरद) सम्पात के दिन जब सूर्य विषुवत रेखा पर होता है, तब उसकी मध्य कालिक स्थिति स पर होती है। उस समय कोण स,क,ज सूर्य का नतांश है जिसका चाप स,ज है। इसकी अर्धज्या स,द है। यह अक्षांश ज्या ग,ख के तुल्य है क्योंकि कोण स,क,ज = कोण ग,क,ब तथा कोण ग,क,ब द्रष्टा की स्थिति का अक्षांश है। इसी प्रकार रेखा द,क = रेखा क,ख जो अक्षांश कोटिज्या है। इस दिन की शंकु मध्याहनकालिक छाया घ,च को पलभा कहते हैं। शंकु की छाया से किसी भी समय सूर्य का नतांश ज्ञात किया जा सकता है। छाया घ,च की त्रिज्या स,क से गुणा करके छाया कर्ण क,घ से
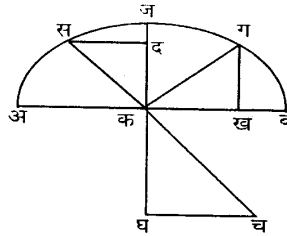
विभाजित कर स,द का मान प्राप्त किया जा सकता है जो चाप स,च की अर्धज्या है। छाया कर्ण क,च का भी मान ज्ञात किया जा सकता है। घ,च भुजा तथा क,घ कोटि है और स,द भुजा तथा द,क कोटि है। इस तरह समकोण त्रिभुज पूरा होता है जिससे विभिन्न सूत्र स्थापित किए जा सकते हैं।

फिर आर्यभट ने उदयकाल की ज्या निकालने के लिए निम्नलिखित नियम स्थापित किया है:-

'इष्टज्यागुणितमहोरात्रव्यासार्धमेव काष्ठान्त्यम्।
स्वाहोरात्रार्धहृतफलभजाल्लङ्कोदयप्राग्ज्या॥' (आर्य० 4.25)

अर्थात् 'परम अपक्रमवाले अहोरात्र व्यासार्ध को क्रांतिमंडल पर सूर्य की स्थिति की (अर्थात् सायन मेष से सूर्य की स्थिति की) ज्या से गुणा करें तथा गुणनफल को उस इष्ट अहोरात्र के व्यासार्ध से भाग दें तो फल लंका के अक्षांश पर मेष से उस चाप के उदय काल की ज्या होगा।' अर्थात् उदय काल की ज्या = $\frac{\text{कोटि ज्या इ x ज्या ल}}{\text{कोटि ज्या ड}}$, जहाँ परम अपक्रम का मान इ है, सायन मेष से इष्ट बिन्दु तक का मान ल है तथा उस बिन्दु का (अर्थात् सायन मेष से ल दूरी का) अपक्रम ड है। इस सूत्र से लंका के अक्षांश में विभिन्न राशियों के उदयकाल निकाले जा सकते हैं। मेष, कन्या, तुला एवं मीन का उदयकाल 1670 कला है; वृष, सिंह, वृश्चिक एवं कुम्भ का उदय काल 1795 कला और मिथुन, कर्क, धनु एवं मकर का उदय काल 1935 है। इसी तरह आर्यभटीय (4.26-36) में उन्होंने गोलीय ज्योतिष से सम्बन्धित विभिन्न सूत्र दिए हैं:-

(1) कुज्या = $\frac{\text{इष्ट क्रान्ति ज्या x अक्षांश ज्या}}{\text{अक्षांश कोटि ज्या}}$ ....(आर्य० 4.26)

(2) गत दिन अथवा शेष दिन का शंकु

$$= \frac{\text{सूर्य की स्थिति की क्षितिज से दूरी के चाप की त्रिज्या x अक्षांश कोटिज्या}}{\text{त्रिज्या}}$$ .... (आर्य० 4.28)

(3) सूर्य का शंकु वर्ग = $\frac{\text{इष्ट महा शंकु x अक्षांश ज्या}}{\text{अक्षांश कोटिज्या}}$ ....(आर्य० 4.29)

(4) (पूर्व या पश्चिम क्षितिज पर) अग्रा = $\frac{\text{परम क्रान्ति की अर्धज्या x इष्ट अर्धज्या}}{\text{अक्षांश कोटिज्या}}$

.... (आर्य० 4.30)

(5) समंडल पर सूर्य का शंकु = $\frac{\text{अग्रा} \times \text{अक्षांश कोटिज्या}}{\text{अक्षांश ज्या}}$ .... (आर्य० 4.31)

(6) दृग्क्षेप ज्या = $\sqrt{(\text{मध्य ज्या})^2 - \left(\frac{\text{मध्यज्या} \times \text{उदयजीवा}}{\text{त्रिज्या}}\right)^2}$ ..(आर्य० 4.33)

(7) दृग्गति ज्या = $\sqrt{\text{दृग्ज्या}^2 - \text{दृग् क्षेप ज्या}^2}$ .... (आर्य० 4.34)

(8) आक्षदृक्कर्म = $\frac{\text{चन्द्रमा का विक्षेप} \times \text{अक्षांश ज्या}}{\text{लम्ब ज्या}}$ .... (आर्य० 4.35)

(9) आयन दृक्कर्म = $\frac{\text{ग्रह का विक्षेप} \times \text{परम क्रान्ति तथा ग्रह की उत्क्रमज्या}}{\text{त्रिज्या}^2}$

.... (आर्य० 4.36)

गोलीय ज्योतिष सम्बन्धी उपरोक्त सूत्रों का विशेष महत्त्व है जिनकी सहायता से ज्योतिष के अनेकानेक सिद्धान्तों का निरूपण किया जाता रहा है। आर्यभट ने इन सूत्रो-सिद्धान्तों की स्थापना कर परवर्त्ती ज्योतिषविदों को इस क्रिया में प्रेरणा प्रदान की। भारतीय ज्योतिष के विकास में उनका यह महत्त्वपूर्ण योगदान है। ब्रह्मगुप्त, भास्कर प्रथम, लल्ल, आर्यभट द्वितीय, श्रीपति, भास्कर द्वितीय प्रभृत्ति विद्वानों ने इस आधार पर ज्योतिष के सिद्धान्तों को वैज्ञानिक बनाने का प्रयास किया।

4.8 **वेध-साधन एवं यंत्र** : शलाका, यष्टि अथवा अन्य पदार्थ द्वारा सूर्यादि आकाशीय पिंडों को देखने का नाम वेध है। वेध 'व्यध' धातु से उत्पन्न हुआ है। शलाकादि द्वारा खस्थ विम्ब विद्ध होता है-इसलिए इस क्रिया का नाम वेध पड़ा। यह अब निर्विवाद रूप से प्रमाणित हो चुका है कि भारतीय ज्योतिषियों ने स्वयं वेध करके अपने ग्रंथों में विक्षेप के लिए भिन्न-भिन्न मान लिए हैं। भारतीय ज्योतिष की संख्याएँ आकाशीय पिंडों के निरीक्षण के आधार पर निर्धारित की गयी हैं। निरीक्षण के लिए भिन्न-भिन्न यंत्रों की आवश्यकता होती थी और इसलिए इन यंत्रों का उल्लेख धार्मिक एवं ज्योतिष-ग्रंथों में पाया जाता है। तुरीय-यंत्र की चर्चा ऋग्वेद में पायी जाती है तथा पानी-घड़ी (Water clock) की विवेचना वेदांग ज्योतिष में मिलती है जिसकी खोज समय को निर्धारित करने के लिए की गयी थी। सिद्धान्त ज्योतिष के काल में अनेक यंत्रों के नाम तथा उनके निर्माण की विधि की चर्चा पायी जाती है। सूर्य-सिद्धान्त में भी एक पूरा अध्याय (अध्याय तेरह) विभिन्न यंत्रों के वर्णन के लिए दिया गया है। बराहमिहिर (पं०सि०, अध्याय 4), ब्रह्मगुप्त (ब्रा०स्फु०सि०, अध्याय 22) तथा अन्य ज्योतिषियों ने भी इस परम्परा का अनुसरण किया। उन्होंने विभिन्न यंत्रों से निरीक्षण कर सिद्धान्तों की स्थापना की। यह सत्य है कि आधुनिक युग की तरह प्राचीन भारत में वेधशाला एवं उन्नत यंत्र उपलब्ध नहीं थे, पर

साधारण यंत्रों की सहायता से ही निरीक्षण कर उन लोगों ने आधुनिक युग की निकटतम शुद्ध गणना की। अन्य भारतीय खगोलविदों की तरह आर्यभट ने भी आकाशीय पिंडों का यंत्रों की सहायता से निरीक्षण किया। सिद्धान्तों के निरूपण में निरीक्षण का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है - इसकी जानकारी हमें उनकी निम्नलिखित उक्ति से मिलती है:-

'क्षितिरवियोगाद् दिनकृद्रवीन्दुयोगाद् प्रसाधितश्चन्द्:।
शशिताराग्रहयो गात्तथैव ताराग्रहा: सर्वे।।' (आर्य० 4.48)

अर्थात् 'पृथ्वी और सूर्य के योग से सूर्य की साधना करनी चाहिए अर्थात् गणित द्वारा किए गए स्पष्ट सूर्य का उदय उसी समय होना चाहिए जब परीक्षण द्वारा वस्तुत: देखा जाए अथवा उदय कालिक नक्षत्रों की स्थिति से सूर्य को साधा जा सकता है। ऐसे ही सूर्य और चन्द्रमा के योग से चन्द्रमा की गति का ज्ञान किया जाना चाहिए। ऐसा योग स्पष्टत: ग्रहण के अवसरों में होता है। अन्त में ताराग्रहों की (अर्थात् बुध, शुक्र आदि की) गति का ज्ञान चन्द्रमा और इन ग्रहों की युति से करना चाहिए।' साथ ही, आर्यभटीय के गोलपाद की चौथी एवं उनचासवीं आर्याओं से भी यह प्रमाणित होता है कि वास्तविक निरीक्षण के आधार पर ही विभिन्न सिद्धान्तों की स्थापना की गयी है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आर्यभट के पास अवश्य ही यंत्र उपलब्ध होंगे, पर आर्यभटीय में तत्सम्बन्धी अत्यल्प सूचना मिलती है। जहाँ अन्य प्राचीन ज्योतिष ग्रंथों में यंत्र सम्बन्धी स्वतंत्र अध्याय पाया जाता है, वहाँ आर्यभटीय में सिर्फ दो ही यंत्रों की चर्चा की गयी है- शंकु एवं काष्ठ यंत्र। काष्ठ यंत्र सम्बन्धी विवरण निम्नलिखित है:-

'काष्ठमयं समवृत्तं समन्तत: समगुरूं लघुं गोलम्।
पारततैलजलैस्तं भ्रमयेत् स्वधिया च कालसमम्।।' (आर्य० 4.22)

अर्थात् ' काष्ठ अथवा अन्य हल्की वस्तु का गोल बनावें जो पूर्णत: सब ओर से वृत्ताकार हो, और एक ही भार का हो तथा हल्का हो। इसे पारा, तेल और जल की सहायता से अपनी बुद्धि लगाकर काल के व्यतीत होने के अनुपात में घुमाना चाहिए।' भिन्न-भिन्न टीकाकारों ने इस यंत्र की व्याख्या अपने-अपने ढंग से की है। परमेश्वर के अनुसार इस यंत्र की व्याख्या इस रूप में की गयी है; 'दो स्तम्भों में लगी शलाकाओं को ऐसे गोले के दोनों आमने-सामने के बिन्दुओं पर बने हुए चित्रों में घुसा कर स्तम्भों के बीच रखना चाहिए। फिर इसकी परिधि के चारों ओर सूत्र लपेट कर उस सूत्र को एक पारा से भरी अलाबू (सूखी लौकी का कमंडल) से बाँधना चाहिए। नल ऊर्ध्वाधर हो और इसके निचले भाग में एक छोटा छिद्र हो। ज्यों-ज्यों जल के कम होने से अलाबू नीचे जायेगा, वैसे-वैसे उसके द्वारा आकृष्ट होकर गोला घूमेगा। यदि छिद्र को इतना बड़ा रखा जाय कि तीस घटियों में गोला आधा घूम जाय तो इस यंत्र से समय की माप हो सकती है।'[7]

फिर शंकु-यंत्र की भी आर्यभट ने चर्चा की है जिसका प्रयोग दिशा एवं काल को निर्धारित करने में होता है। आर्यभटीय के गणितपाद की 14वीं एवं 15वीं आर्याओं में

तत्सम्बन्धी सिद्धान्तों का विवरण दिया गया है। भास्कराचार्य प्रथम ने इन आर्याओं की व्याख्या करते समय शंकु के आकार आदि का भी वर्णन किया है। सामान्यत: शंकु बारह बराबर भागों में विभाजित किया जाता है जिसे अंगुल कहा जाता है, पर भास्कराचार्य प्रथम के कथनानुसार यह कोई आवश्यक नियम नहीं है; शंकु किसी लम्बाई का हो सकता है तथा इसे जितने विभागों में विभाजित करना चाहें, कर सकते हैं।[8]

इतना ही नहीं, आर्यभट ने अपने दूसरे ग्रंथ 'आर्यभट-सिद्धान्त' में नौ प्रकार के यंत्रों की विशद व्याख्या की है। यह पूरी पुस्तक अभी उपलब्ध नहीं है, पर उसका जो अंश प्राप्त हो सका है, उसमें 34 श्लोक हैं जो सभी यंत्रों के वर्णन से ही सम्बन्धित हैं। इसलिए यह अनुमान किया जाता है कि इस ग्रंथ में उन्होंने, अन्य ज्योतिषविदों की तरह, यंत्र सम्बन्धी एक स्वतंत्र अध्याय समाहित किया है। फलस्वरूप आर्यभटीय में यंत्र सम्बन्धी विवरण देने की आवश्यकता उन्होंने नहीं समझी। जिन नौ यंत्रों की व्याख्या उन्होंने यहाँ की है, उनके नाम हैं- (1) छाया-यंत्र, (2) धनु-यंत्र, (3) यष्टि-यंत्र, (4) चक्र-यंत्र, (5) छत्र-यंत्र, (6) तोय-यंत्र, (7) घटिका-यंत्र, (8) कपाल-यंत्र और (9) शंकु-यंत्र[9]।

इस तरह आर्यभट द्वारा प्रतिपादित ज्योतिष सम्बन्धी सिद्धान्त उनके तीव्र निरीक्षण तथा उन्नत विश्लेषण-क्षमता के ही फल हैं। ये प्राय: शुद्ध हैं तथा आधुनिक गणना एवं सिद्धान्तों के बहुत ही निकट हैं। अयनांश, लम्बन, अयनगति, तिथि, नक्षत्र, करण, महापात जैसे ज्योतिष के कुछ आवश्यक तत्त्वों का आर्यभटीय में अभाव है, पर इसका अर्थ यह नहीं कि आर्यभट को इन तत्त्वों का ज्ञान नहीं था। सम्भावना है, कि अपने दूसरे ग्रंथ 'आर्यभट-सिद्धान्त' में, जो एक विशाल ग्रंथ रहा होगा, इन तत्त्वों का विशद विवेचन किया हो। इस ग्रंथ की पांडुलिपि की उपलब्धि हो जाने पर ही इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहा जा सकता है।

<u>संदर्भ-सूची</u> :

1. शंकर बालकृष्ण दीक्षित, भारतीय ज्योतिष, लखनऊ, 1963, पृ० 6-10।
2. महाभास्करीय 4.40-44; शिष्यधी वृद्धिद् 1.2.30-35; ब्रा०स्फु०सि०, 14.10-12; सिद्धान्त-शिरोमणि 5.7, 10-32।
3. सूर्य-सिद्धान्त, 12.40।
4. पंच-सिद्धान्तिका, 13.1।
5. सि० शिरोमणि, गोला० भुवन० 6 ।
6. शिष्यधी० ग्रहभ्रम०2 तथा सि०शि०, गोला० मध्यमा०2 (भाष्य)।
7. आर्यभटीय, एच०कर्ण (सं०) लियडन, 1874, पृ० 84-85।

8. डा० के०एस० शुक्ला, आर्यभटीय ऑफ आर्यभट, दिल्ली, 1976, पृ० 56 ।
9. डा० के०एस० शुक्ला, गणित, अंक 18, लखनऊ, 1967, पृ० 92 तथा डा० परमेश्वर झा (वर्त्तमान लेखक), आर्यभट वन एंड हिज कन्ट्रिब्यूशन्स टू मैथमैटिक्स, पटना, 1988, एपेन्डिक्स, पृ० 346-49 ।

(5)

आर्यभट के अनुयायी

5.1 **कुसुमपुर-परम्परा** : पूर्व के विवरण से यह स्पष्टत: परिलक्षित होता है, कि आर्यभट प्राचीन भारत के मौलिक-वैज्ञानिक अन्वेषक थे। उनके द्वारा स्थापित महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों को परवर्त्ती विद्वानों ने अनुकरण-अनुसरण किया, उन्हें संशोधित एवं संवार्द्धित किया। फलस्वरूप भारतीय गणित एवं ज्योतिष का उत्तरोत्तर विकास होता गया। यह भी प्राय: निश्चित हो चुका है, कि आर्यभट कुसुमपुर (आधुनिक पटना) के निवासी थे जो पुरातन काल से विद्या का केन्द्र रहा है। गणित एवं ज्योतिष के क्षेत्र में भी इसे प्रसिद्धि प्राप्त होती रही है। इस शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा यहाँ प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व या इससे कुछ पूर्व से ही अक्षुण्ण रही है।[1] आर्यभटीय की विभिन्न आर्याओं (1.13, 2. 1, 4.49-50) से इस बात की पुष्टि होती है, कि ब्रह्म (स्वायम्भू)-सिद्धान्त में यहाँ के विद्वानों को सदैव श्रद्धा-विश्वास रहा है। यहाँ इसे महत्त्व प्रदान किया जाता रहा है तथा इसके अनेकानेक अनुयायी एवं पोषक रहे हैं। यही कारण है, कि आर्यभट ने यहाँ के ज्ञान को अति पूजित कहा है-'कुसुमपुरेऽम्यर्चितं ज्ञानम्।' विभिन्न जैन ग्रंथों से भी इसकी पुष्टि होती है कि इसकी परम्परा सुदीर्घ है। ऐसा समझा जाता है, कि इस परम्परा के प्रथम पोषक जैन धर्म के प्रसिद्ध एवं अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु (313 ई०पू०) हैं, जो आध्यात्मिक गुरु तो थे ही, एक प्रकांड ज्योतिषविद् भी थे। उन्होंने दो ज्योतिष-ग्रंथों-सूर्य-प्रज्ञप्ति (5वीं शताब्दी ई०पू० की रचना) पर टीका तथा 'भद्रवाहवी संहिता' की रचना की। विद्वानों की मान्यता है कि वे मगध (कुसुमपुर) के रहने वाले थे। यहाँ बारह वर्षों तक लगातार दुर्भिक्ष पड़ने के कारण ने अपने शिष्यों के साथ कुसुमपुर से दक्षिण की ओर रवाना हो गए तथा मैसूर राज्य के श्रवण वेल गोला नामक स्थान में जाकर बस गए।[2] पुन: जैन धार्मिक ग्रंथ के एक प्रमुख ग्रंथकार उमास्वाति (अथवा उमा स्वामी) ने 'तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र-भाष्य' नामक एक विशाल ग्रंथ का प्रणयन किया जिसमें सम्पूर्ण जैन वाङ्मय को सार रूप में तो संकलित किया गया ही है, साथ ही स्थानमान-सूची, भिन्नों का अवर्त्तक, गुणा-भाग की विधियाँ, वृत्त एवं वृत्तखंडों से सम्बन्धित ज्यामितीय सूत्र आदि अनेक गणितीय सिद्धान्तों को भी सन्निहित किया गया है। उमास्वाति स्वयं गणितज्ञ थे अथवा नहीं- यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं होता, पर इतनी बात निश्चित है, कि उनके समय में कोई गणितीय ग्रंथ अवश्य उपलब्ध था जिससे उन्होंने अपनी रचना में कुछ सूत्र उद्धृत किए। वे 'जम्बूद्वीप-समास'

नामक एक ज्योतिष-ग्रंथ के भी रचयिता माने जाते हैं। श्वेताम्बर जैन परम्परानुसार उनका समय लगभग 150 ई०पू० है तथा कुसुमपुर (पटना) के नजदीक न्योग्रोधिक नामक स्थान के वे निवासी थे। यह भी मान्यता है कि उनकी माता का नाम उमा था तथा पिता का नाम स्वाति जिन दो नामों के संयोग से उनका नाम उमास्वाति पड़ा, पर दिगम्बर जैन परम्परानुसार उन्हें उमास्वामी नाम से सम्बोधित किया जाता है। जो भी हो, दोनों परम्पराओं के विद्वान इस बिन्दु पर सहमत हैं कि वे कुसुमपुर के निवासी थे तथा यहाँ की ज्योतिष-परम्परा के एक प्रमुख पोषक थे।[3] ब्रह्मगुप्त (ब्रा०स्फु० सिद्धान्त 11.31) ने आर्यभट के साथ-साथ श्रीषेण, विष्णुचन्द्र एवं प्रद्युम्न के ज्योतिष-सिद्धान्तों की भी आलोचना की है जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि ये लोग भी कुसुमपुर-परम्परा से सम्बन्धित या प्रभावित थे। इन लोगों के सम्बन्ध में अभी तक विशेष रूप से जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी है, पर इतना निश्चित है कि आर्यभट से पूर्व इन लोगों ने ब्रह्म-सिद्धान्त के आधार पर ज्योतिष-ग्रंथों की रचना कर यहाँ की परम्परा को जाग्रत रखा है। कुसुमपुर की इस प्राचीन संस्कृति को आर्यभट ने अपने मौलिक आविष्कारों से संविर्द्धित किया। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है, कि प्राचीन भारत में गणित-ज्योतिष के तीन सुप्रसिद्ध एवं सुव्यवस्थित पीठ थे जो उज्जैन, मैसूर एवं कुसुमपुर में अवस्थित थे। इन प्रतिष्ठानों के आचार्यों ने भारतीय सिद्धान्त ज्योतिष का प्रतिनिधित्व किया है। सम्भावना है, ये तीनों पीठ, सिद्धान्तों एवं कार्य-प्रणाली में एक-दूसरे से भिन्न रहने पर भी, एक साथ मिलकर भारतीय ज्योतिष के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान देते रहे। उज्जैन पीठ के प्रमुख आचार्य हुए ब्रह्मगुप्त एवं भास्कराचार्य द्वितीय तथा दक्षिण के मैसूर पीठ के प्रतिष्ठित आचार्य थे महावीराचार्य। कुसुमपुर पीठ, जो सम्भवत: इन तीनों पीठों में सबसे प्राचीन था, का प्रतिनिधित्व किया आर्यभट ने।[4] आर्यभट की विशिष्ट प्रतिभा का ही फल है, कि 5वीं शताब्दी से आज तक इस परम्परा का संवर्द्धन एवं विकास होता रहा। उनके अनुयायियों ने उनकी कृतियों के प्रचार-प्रसार के लिए अथक परिश्रम किया तथा उनकी उपलब्धियों को पल्लवित, पुष्पित एवं फलित किया। फलस्वरूप उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का विषय अनवरत रूप से परवर्त्ती विद्वानों के चिन्तन-मनन का विषय रहा है। चूँकि कुसुमपुर-परम्परा-पोषण में आर्यभट का योगदान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रहा है, इसलिए इसे आर्यभटीय परम्परा के नाम से भी सम्बोधित किया जा सकता है। इस परम्परा की गणितीय एवं ज्योतिष सम्बन्धी सामग्री का अपने सत्य रूप में सिंहावलोकन परवर्त्ती विद्वानों की रचनाओं की गहराई में जाने पर ही हो पाता है।

5.2 कुसुमपुर (अथवा आर्यभटीय) - परम्परा के पोषक : पूर्व के अध्यायों में हमने देखा है कि प्रभाकर, पांडुरंगस्वामी, लाटदेव एवं नि:शंकु आर्यभट के सुयोग्य शिष्य थे जिन्होंने उनके सम्पर्क में रहकर ज्योतिष का गम्भीर अध्ययन किया तथा उनके सिद्धान्तों

के आधार पर ग्रंथों का प्रणयन भी किया। प्रभाकर ने तो आर्यभटीय पर एक टीका भी लिखी, पर अभी वह अनुपलब्ध है। लाटदेव (लगभग 505 ई०) उनके शिष्यों में सबसे प्रमुख हैं। ऐसी मान्यता है कि उन्होंने रोमक तथा पौलिश सिद्धान्तों पर टीकाएँ लिखीं। भास्कर प्रथम ने लाटदेव को आचार्य एवं सर्व-सिद्धान्त-गुरु कहकर सम्बोधित किया है। ब्रह्मगुप्त (628 ई०) एवं पृथुदक स्वामी (860 ई०) ने भी लाटदेव की कृतियों से अनेक आर्याओं को उद्धृत किया है जो आर्या छंद में हैं तथा आर्यभटीय की भाषा से मिलती-जुलती हैं। पांडुरंग स्वामी तथा नि:शंकु एवं उनकी कृतियों के सम्बन्ध में अभी तक वांछनीय सूचनाएँ उपलब्ध नहीं हो सकी हैं। इस परम्परा के दूसरे प्रमुख पोषक के रूप में भास्कर प्रथम (7वीं शताब्दी पूर्वार्द्ध) का नाम उल्लेखनीय है। वे आर्यभट के अपने शिष्य तो नहीं हैं, पर उनके सिद्धान्तों का समुचित रूप में पुष्पन एवं फलन किया है। उन्होंने आर्यभटीय पर 'आर्यभटीय-भाष्य' नामक विशद एवं विश्वसनीय टीका लिखी तथा उन सिद्धान्तों के आधार पर महा भास्करीय एवं लघु भास्करीय नामक दो ज्योतिष-ग्रंथों की भी रचना की। वस्तुत: भास्कर प्रथम की उपलब्ध कृतियाँ आर्यभटीय में वर्णित सिद्धान्तों के ही विश्लेषण एवं विस्तार हैं। उनकी रचनाओं में आर्यभट, आर्यभटीय एवं आर्यभट-परम्परा (स्कूल) सम्बन्धी संदर्भ प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं। महाभास्करीय को तो स्वयं उन्होंने 'आर्यभट-कर्म-निबंध' नाम से उद्घोषित किया है (म०भा०, 8.26)। इतना ही नहीं, उन्होंने आर्यभट, उनके ग्रंथ एवं उनके शिष्यों के प्रति विश्वास व्यक्त करते हुए कहा है (म०भा०1.3) कि 'आस्मकम-स्फुट-तंत्र एकदम सही है तथा बहुत ही साधना से प्राप्त हुआ है, अपने विशिष्ट गुणों के लिए विश्व में अमर रहे तथा आर्यभट के शिष्य जो पापों से दूर हैं और जिन्होंने इच्छाओं पर विजय पायी है, वे भी सदा अमर रहें।' इसी तरह लघु भास्कारीय (1.2-3) में भी उन्होंने आर्यभट एवं उनकी कृति के प्रति श्रद्धांजलि एवं आभार प्रकट किया है। इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि भास्कर प्रथम ने परोक्ष रूप में समझे जाने वाले गुरु आर्यभट के प्रति कृतज्ञता व्यक्त की है तथा उस परम्परा से तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित किया है। इस सम्बन्ध में टी०एस० कुप्पन शास्त्री का कथन अक्षरश: ठीक जँचता है जिन्होंने कहा है कि आर्यभट सूत्रकार हैं, भास्कर प्रथम वृत्तिकार तथा गोविन्द स्वामी (मा०भा०-भाष्य के रचयिता) भाष्यकार।[5]

हरिदत्त (7वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध) भी इसी परम्परा के अनुयायी हैं। उनकी रचना 'परहित गणित' आर्यभट के सिद्धान्तों पर ही आधारित है तथा इस परम्परा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। यह केरल में सबसे अधिक लोकप्रिय रहा है जहाँ अभी भी इसी के आधार पर ज्योतिष की गणना की जाती है। उन्होंने पंचांग सम्बन्धी 'ग्रहचार निबंध' नामक एक दूसरे ग्रंथ की भी रचना की। फिर देव (689 ई०) के द्वारा 'करण-रत्न' नामक पंचांग-निर्माण सम्बन्धी ग्रंथ की रचना की गयी जिसमें उन्होंने स्वीकार किया है कि आर्यभट के ग्रंथों के गहन अध्ययन के बाद ही उन्होंने इस ग्रंथ की रचना की है। इसकी

विशेषता यह है कि, मन्वन्तर, कल्प, शकाब्द आदि में बीज-संस्कार किया गया है। लल्ल (748 ई०) ने भी अपने ग्रंथ 'शिष्यधीवृद्धद्' में आर्यभट की गणना विधि को अपनाया है, उनके द्वारा स्थापित ग्रह-भगण की संख्या को ग्रहण किया है तथा बीज-संस्कार कर सिद्धान्तों की स्थापना की है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है (शिष्य०,ग्रह०,अन्तिम आर्या) कि उनका ग्रंथ आर्यभटीय जैसा ही फल देता है। साथ ही उन्होंने यह भी कहा है (शिष्य०प्रथम आर्या) कि आर्यभट द्वारा स्थापित ज्योतिष-सिद्धान्त समझने में कठिन है, इसलिए उसे आसान रूप में लिखा गया है जिसे छात्र आसानी से समझ सके। यह सत्य है कि उन्होंने आर्यभट के भू-भ्रमण के सिद्धान्त की आलोचना की है, पर उनके अन्य सिद्धान्तों को सहर्ष स्वीकार किया है। अत: लल्ल भी आर्यभटीय परम्परा के अनुयायी माने जाते हैं। शंकर नारायण (869 ई०) ने लघु भास्करीय की टीका के आरम्भ में आर्यभट-परम्परा के विभिन्न आचार्यों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की है तथा उनके सिद्धान्तों में विश्वास व्यक्त किया है। अपनी टीका को प्रामाणिक बनाने के उद्देश्य से उन्होंने आर्यभटीय की अनेक आर्याओं को भी उद्धृत किया है। वटेश्वराचार्य (880 ई०) तो इस परम्परा के कट्टर पक्षधर हैं। उन्होंने अपने ग्रंथ 'वटेश्वर सिद्धान्त' (मध्य० 43-45) में आर्यभट के मत का समर्थन करते हुए ब्रह्मगुप्त के सिद्धान्तों का खंडन किया है। आर्यभट की आलोचना करने के कारण ही उन्होंने ब्रह्मगुप्त की कटु आलोचना की है। फिर उदय दिवाकर (1035 ई०) ने भी लघु भास्करीय की टीका के आरम्भ में ही आर्यभट के प्रति आभार व्यक्त करते हुए घोषित किया है कि आर्यभट द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के आधार पर ही उन्होंने इस टीका की रचना की है। ब्रह्मदेव (1092 ई०) ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है, कि उनका ग्रंथ 'करण-प्रकाश' आर्यभट के सिद्धान्तों पर ही आधारित है तथा वही फल देता है जो आर्यभटीय से प्राप्त होता है। इसी आधार पर दामोदर (1471 ई०) ने भी 'भट तुल्य' नामक करण ग्रंथ की रचना की। गणेश (1498 ई०) का 'ग्रह-लाघव' नारायण (1571 ई०) कृत मुहूर्त्त मार्त्तण्ड', पुतुमन सोमयाजी (1732 ई०) की 'करण-पद्धति', वीर सिंह गणक (काशी राजा के पुत्र) का आर्यभट-सिद्धान्त तुल्यकरण आदिअनेकानेक ज्योतिष-ग्रंथों की रचना 15वीं शताब्दी के बाद भी हुई जो आर्यभट के सिद्धान्तों से प्रभावित हैं।

आर्यभट द्वारा प्रतिपादित कुछ सिद्धान्त पौराणिक मतों से प्रतिकूल हैं, तो भी भारतीय ज्योतिषियों की आस्था उनमें बनी रही। आर्यभटीय का पठन-पाठन सदैव जारी रहा। उसका अमिट छाप दृष्टिगोचर होता है। युग-युग में यह भारतीय ज्योतिष को अनुप्राणित करता रहा। हमने पूर्व में देखा है, कि इस ग्रंथ पर विभिन्न भाषाओं में एवं भिन्न-भिन्न युगों में टीकाएँ लिखी गयीं जिससे इसकी महती उपयोगिता प्रमाणित होती है। कुछ उल्लेखनीय टीकाकारों के नाम हैं-प्रभाकर, भास्कर प्रथम, सोमेश्वर, सूर्यदेव यज्वा, परमेश्वर, यल्लय, नीलकंठ, रघुनाथ राजा, माधव, भूतविष्णु, घटीगोप, कोदंडराम, विरूपाक्ष, कृष्णदास आदि। इन

टीकाकारों की टीकाओं से भी आर्यभट-परम्परा सदैव पल्लवित-पुष्पित होती रही।

इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी ज्योतिषविद् हैं जिन्होंने आर्यभट के सिद्धान्तों की कटु आलोचना तो की है, पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में उन सिद्धान्तों को या तो अपनाया है या अपने मत को प्रामाणिक बनाने के उद्देश्य से उद्धृत किया है। ब्रह्मगुप्त ने 30 वर्ष की आयु में रचित ग्रंथ 'ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त' के विभिन्न स्थलों में आर्यभट के सिद्धान्तों का जहाँ खंडन किया है, वहीं 69 वर्ष की अवस्था में लिखी गयी दूसरी पुस्तक 'खंडरवाद्यक' में अपनी गलती स्वीकार की है तथा आर्यभट-सिद्धान्त को सही मानकर ग्रहण किया है। उन्होंनें (खंडरवाद्यक, प्रथमश्लोक में) घोषित किया है कि 'आचार्य आर्यभट के तुल्य इस खंडरवाद्यक को कहूँगा क्योंकि आर्यभटीय के द्वारा दैनिक कार्यों -विवाह, जातकादि में कठिनाई होती है, इसलिए संक्षेप में लिख रहा हूँ जो उसी के सदृश फल देगा।' फिर वराहमिहिर, भट्टोत्पल, आर्यभट द्वितीय, श्रीपति, भास्कराचार्य द्वितीय प्रभृति विद्वानों ने भी आर्यभट के मौलिक सिद्धान्तों से प्रेरणा प्राप्त की तथा बीज संस्कार देकर तदनुकूल सिद्धान्तों की स्थापना की।

5.3 **आर्य पक्ष :** आधुनिक युग में भी भारतीय ग्रह-गणित-ग्रंथों के मुख्यतः तीन पक्ष हैं-आर्य, ब्राह्म एवं सौर। इन तीन पक्षों में कुछ-न-कुछ भिन्नता है। इनके वर्षमान एक-दूसरे से भिन्न हैं। काल-गणना सम्बन्धी विधि, कल्प या महायुग की इकाइयों, ग्रहादिकों की गति आदि में अन्तर है। ग्रह-लाघव तथा मुहूर्त्त-मार्त्तण्ड में तीनों पक्षों का स्पष्ट उल्लेख हैं। तीनों पक्षों के अन्तर के सम्बन्ध में गणेश दैवज्ञ ने (ग्रह-लाघव में) सविस्तार विवेचना की है तथा कहा है, कि सूर्य-सिद्धान्त के अनुसार सूर्य एवं चन्द्रोच्च ठीक होते हैं, चन्द्रमा में नौ कला घटा देने पर वृहस्पति आर्य-सिद्धान्त के अनुकूल ठीक पड़ते हैं तथा मंगल, राहु तथा बुध-केन्द्र ब्रह्म-सिद्धान्त के अनुसार ठीक होते है।[6] आर्य पक्ष जो आर्यभट के सिद्धान्तों पर आधारित हैं,अधिकतर दक्षिण भारत केरल, तामिलनाडु आदि प्रान्तों में प्रचलित हैं, ब्राह्म पक्ष जो ब्रह्म-सिद्धान्त से सम्बन्धित है, गुजरात, राजस्थान आदि उत्तर-पश्चिम भारत में तथा सौर पक्ष जो सूर्य-सिद्धान्त से सम्बन्धित है, देश के शेष भागों में। इस दृष्टिकोण से भी आर्यभट-परम्परा के महत्त्व को आँका जा सकता है। यह द्रष्टव्य है, कि आर्यभट के ग्रंथों की पांडुलिपियाँ बिहार में दुर्लभ हैं, उनके ग्रंथों पर टीकाएं भी यहाँ कम लिखी गयीं तथा ज्योतिष का आर्य पक्ष बिहार की अपेक्षा दक्षिण भारत में ही अधिक लोकप्रिय हो सका। जो भी हो, कुसुमपुर की भारतीय ज्योतिष-पम्परा अपनी विशिष्टता एवं प्रामाणिकता के कारण लगभग दो हजार वर्षों से विद्वानों के मध्य समादृत है।

5.4 **अन्य देशों में आर्यभट एवं उनके सिद्धान्त :** इतना ही नहीं, आर्यभट का धवल यश दिग्दिगन्त तक फैल चुका। उनका नाम उनकी कृति के कारण अन्य देशों में भी विख्यात हो गया। यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि प्राचीन काल में भी विश्व

के प्राचीन सभ्य देशों में विचारों का आदान-प्रदान होता था। एक देश की सभ्यता-संस्कृति से दूसरे देश भी प्रभावित होते थे। दूसरे देशों का भारत के ज्ञान-विज्ञान पर कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा, पर भारतीय गणित-ज्योतिष-आयुर्वेद का प्रभाव अन्य देशों में विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है। यह प्राय: सिद्ध हो चुका है कि भारतीय संस्कृति विशेष कर बौद्ध धर्म का प्रभाव चीन, जापान, इंडोनेशिया, तिब्बत, मंगोलिया आदि अनेक देशों पर पड़ा। इसके साथ ही यहाँ के ज्योतिष-सिद्धान्त भी उन देशों में हस्तान्तरित हुए। अरब ने तो भारतीय पद्धति को 7वीं-8वीं शताब्दी में ही अंगीकृत किया। उन दिनों बगदाद विद्याध्ययन का केन्द्र था। वहाँ के बादशाह अब्बासीद कलीफा अल-मंसूर (712-75 ई०) के राज्यकाल में एक भारतीय विद्वान जिसका नाम कदाचित कंकह, कंकरफ या कंकर था, बगदाद गया। वह अपने साथ एक गणितीय ग्रंथ ले गया था जिसका नाम वहाँ के अभिलेखों में 'सिंद हिंद' दिया हुआ है। यह सम्भव है कि उक्त ग्रंथ ब्रह्मगुप्त का ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त रहा हो, और उसी का विकृत रूप 'सिंद हिंद' बन गया हो। ब्रह्मगुप्त के ग्रंथों का अनुवाद अरबी में किया गया। ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त का अनुवाद 'सिंद हिंद' और खंडरवाद्यक का अनुवाद 'अरकन्द' कहलाया। यह भी प्राय: निश्चित हो चुका है कि 800 ई० के आसपास आर्यभटीय का अनुवाद 'आर्जवहर या आरज बहज' के रूप में अवुल हसन अहवाजी द्वारा किया गया।[7] इसके अतिरिक्त चरक, सुश्रुत, वागवट आदि द्वारा रचित आयुर्वेदिक ग्रंथों का भी अनुवाद अरबी में किया गया। इस तरह 8वीं-9वीं शताब्दी में भारतीय विज्ञान का प्रसार अरब में हो गया था। वहाँ के अल-खोआरिज्मी (925 ई०) का कार्य गणित के इतिहास की दृष्टि से बड़े महत्त्व का है। उन्होंने अंकगणित पर एक पुस्तक लिखी जिसमें भारतीय संख्याओं की विशेष रूप से चर्चा की गयी है। बीजगणित पर लिखी उनकी पुस्तक 'अल-जेवर-बाल-मुकावलाह' में भारतीय बीजगणितीय सिद्धान्तों का बाहुल्य है। साथ ही भारतीय ज्योतिष के सिद्धान्तों केआधार पर उन्होंने ज्योतिषीय सारणियाँ भी बनायीं। अल-खोआरिज्मी के बाद भी अल-किंडी, हबश, अल-हासिब, अल-नैरिजी, अल-हसन, इब्न मिस्वास, इब्न-अल-अदमी आदि अनेक अरबी विद्वानों ने भारतीय संख्याओं का प्रयोग किया तथा भारतीय ज्योतिष के सिद्धान्तों से प्रभावित होकर सारणियाँ तैयार कीं। फिर अल-बिरूनी (973-1048 ई०) एक बहु आयामी अरबी विद्वान ने भारत में वर्षों रहकर पुराणों, दार्शनिक तथ्यों तथा गणित-ज्योतिष के ग्रंथों का अध्ययन किया। अरबी में भारतीय सिद्धान्तों से सम्बन्धित अनेक ग्रंथों की उन्होंने रचना की। ब्रह्मगुप्त रचित खंडरवाद्यक का अरबी में अनुवाद भी किया। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषित किया है, कि हम लोग जिन अंकों का प्रयोग करते हैं, वे हिन्दू अंकों के सर्वोत्तम आकारों से व्युत्पन्न किए गए हैं।[8] इस तरह अरबों ने भारतीय विज्ञान में विशेष रूचि दिखलायी। खासकर आर्यभट एवं ब्रह्मगुप्त के सिद्धान्तों का अनुसरण किया। ज्योतिष के सिद्धान्तों, त्रिकोणमितीय फलनों एवं संख्या लेखन में जहाँ उन्होंने हिन्दू ग्रंथों से ज्ञानार्जन किया, वहीं ज्यामिति एवं

बीजगणित में यूनानी ग्रंथों से स्फुरण प्राप्त किया। इन सिद्धान्तों को वैज्ञानिक एवं शृंखलाबद्ध कर उन्होंने 12वीं शताब्दी में पाश्चात्य देशों को हस्तान्तरित किया जहाँ उन सिद्धान्तों को आधुनिक रूप प्रदान किया गया। भारतीय शास्त्र के प्राय: सभी पाश्चात्य एवं प्राच्य विचारकों यथा वेबर, कीथ, कोलब्रुक, बी०बी०दत्त, आर०सी० मजुमदार, एस०एन० सेन आदि ने भी ऐसा ही मंतव्य व्यक्त किया है। जी० सार्टन ने तो यहाँ तक कहा है, कि अरबी संस्कृति पश्चिम एवं पूर्व के लिए मुख्य पुल जैसी है जिसके माध्यम से भारतीय संख्याओं, ज्या एवं कोज्या आदि सम्बन्धी सिद्धान्तों का आविर्भाव यूरोप में हुआ।[9] इस तरह भारतीय सिद्धान्तों का आधुनिक गणित-ज्योतिष के विकास पर भी परोक्ष रूप से प्रभाव पड़ा। स्वभावत: इस विकास में आर्यभट का भी यथेष्ट योगदान रहा है। आर्यभटीय के महत्त्व को ध्यान में रखकर 17वीं शताब्दी से इसका अनुवाद फ्रेंच, जर्मन, लैटिन, अंग्रेजी आदि विभिन्न विदेशी भाषाओं में किया जाता रहा है। साथ ही आर्यभट एवं उनके सिद्धान्तों से सम्बन्धित निबंध भी पाश्चात्य विद्वानों द्वारा लिखे जाते रहे हैं जिनका प्रकाशन विभिन्न राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय शोध-पत्रिकाओं में होता रहा है।

5.5 **आर्यभट की मौलिकता :** यहाँ एक और बिन्दु पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने इस दिशा में एक भ्रम उत्पन्न करने का प्रयास किया कि भारतीय ज्योतिष और खास कर आर्यभट के सिद्धान्त यूनानी सिद्धान्तों से प्रभावित हैं। विशेष रूप से जी०आर० केय, ह्विटनी तथा जी०थिबो को भारतीय विज्ञान के हर एक क्षेत्र में यूनानी प्रभाव की ही झाँकी मिलती है। प्राचीन भारतीय ग्रंथों के अवलोकन से यह प्रमाणित होता है, कि भारतीय वैज्ञानिक यूनानी या अन्य देशीय विद्वानों से बहुत पूर्व ही गणित-ज्योतिष के अनेक सिद्धान्तों की स्थापना कर चुके थे। ऋग्वेद एवं तैत्तिरीय संहिता (3000 ई०पू०) में ज्योतिष के ऐसे तत्त्व उपलब्ध हैं जिनका ज्ञान यूनान में सैकड़ों वर्ष बाद हुआ। दोनों पद्धतियों के तुलनात्मक अध्ययन से भी ज्ञात होता है, कि दोनों एक दूसरे से पूर्णत: स्वतंत्र हैं। ग्रहों के नाम भिन्न हैं, ग्रहों की दूरियाँ एवं उनके भगण भी भिन्न हैं। भारतीय पद्धति में ज्याओं एवं बीजगणितीय विधियों के प्रयोग का बाहुल्य है, तो यूनानी पद्धति में जीवाओं एवं ज्यामितीय विधियों का व्यवहार। प्रथम पद्धति में जहाँ शीघ्रोच्च-मंदोच्च, आकार में तथा स्थान-स्थान पर भिन्न हैं, वहाँ दूसरी पद्धति के अनुसार ये आकार में सर्वदा समान रहते हैं। साथ ही पंचांग-निर्माण की विधि भी एक दूसरे से भिन्न है तथा लम्बन की भारतीय गणना पूर्णत: मौलिक है। इतना ही नहीं, आर्यभट ने भू-भ्रमण सम्बन्धी ऐसे विलक्षण सिद्धान्त की खोज की जिसके आविष्कार के लिए सिर्फ यूनान कोही नहीं, सभी पाश्चात्य देशों को उनसे 1000 वर्षों बाद तक कोपर्निकस के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ी। तिलक, बालकृष्ण दीक्षित, गोरख प्रसाद आदि विद्वानों ने भी दोनों पद्धतियों के तुलनात्मक अध्ययन के बाद यह निष्कर्ष निकाला है कि ज्योतिष की भारतीय प्रणाली मौलिक एवं स्वतंत्र है। अत: जी०आर०केय का मत भ्रामक एवं निराधार है।

कतिपय पाश्चात्य विद्वानों यथा मैक्समूलर, बरजेस, कोलब्रुक आदि ने भी भारतीय पद्धति की प्राचीनता स्वीकार की है तथा स्पष्ट शब्दों में घोषित किया है कि भारतीय एवं यूनानी पद्धतियाँ एक-दूसरे से प्रभावित नहीं हुई हैं-स्वतंत्र रूप से दोनों की खोज की गयी है तथा तत्सम्बन्धी सिद्धान्तों का निरुपण किया गया है।[10] यह सत्य है कि भारतीय जातक या होरा शास्त्र में कुछ यूनानी शब्दों का प्रयोग पाया जाता है जो विचारों के आदान-प्रदान के क्रम में यहाँ के ग्रंथों में स्थान पा लिए हों। बराहमिहिर ने यवनों (सम्भवत: यूनानियों) की विद्वता की प्रशंसा की है क्योंकि इस शास्त्र में उन लोगों ने विशिष्ट सफलता प्राप्त की है।[11] इस तरह दोनों देशों में स्वतंत्र रूप से अन्वेषण एवं सिद्धान्तों के निरुपण किए जाने की ही सम्भावना है। यदि कोई समानता दृष्टिगोचर भी होती है तो यह आवश्यक नहीं है, कि एक-दूसरे से प्रभावित ही हुए हैं।

इसी तरह गणित-विाान के क्षेत्र में भी दोनों देशों की पद्धतियों में भिन्नता है। यूनानी गणित में जहाँ संख्याओं के सिद्धान्तों तथा उनके विभिन्न प्रकार-भेद-उपभेद की प्रधानता है, वहाँ भारतीय पद्धति में संख्याओं के संकेत तथा उनकी गणना के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया गया है। भारत की दाशमिक प्रणाली तो विश्वभर में प्रचलित हुई जो अभी भी विद्यमान है। बीजगणित के क्षेत्र में भी यहाँ के वैज्ञानिकों को पूर्णत: सफलता प्राप्त हुई है। यूनानी गणितज्ञ डायफैन्टस (360 ई०) का नाम जगत-प्रसिद्ध हो चुका है क्योंकि उन्होंने समीकरणों के हल निकालने की विधियाँ दीं, पर उनके कृतित्व के सिंहावलोकन से यह-ज्ञात होता है, कि प्रथम एंव द्विघातीय अनिर्णित समीकरणों की व्यापक विधि उन्हें मालूम नहीं थी जहाँ आधुनिक गणितज्ञों से बहुत पूर्व ही भारत में, लगभग उन्हीं के समय, आर्यभट द्वारा इस विधि का अन्वेषण हो चुका था। इतना ही नहीं, आधुनिक बीजगणित की अनेक विधियाँ मूलत: भारतीय हैं। ज्योतिषशास्त्र की गणना में बीजगणितीय सिद्धान्तों का प्रयोग भारतीय विद्वानों की देन है, दूसरी तरफ ज्यामितीय सिद्धान्तों का विकास यूनानी विद्वानों द्वारा विशेष रूप से किया गया। अक्षरों के द्वारा अंकों का निरुपण करना तथा स्वरों के वर्ग-अवर्ग अष्टादश स्थान के अंकों को निर्धारित करना तो आर्यभट की विलक्षण बुद्धि की ही उपज है। स्वर के द्वारा यूनानियों को स्थानांकों का न तो ज्ञान था और न उतने स्थान ही उनके यहाँ प्रचलित थे। उक्त पद्धति की जननी भारत ही है। इन युक्तियों से सुस्पष्ट है कि गणित की दोनों पद्धतियाँ एक-दूसरे से भिन्न हैं।[12] दोनों देशों ने स्वतंत्र रूप से अन्वेषण किया तथा दोनों का गणित के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान है। आर्यभट भारतीय गणित-ज्योतिष के प्रथम कुशल आचार्य हैं जिन्होंने इसके समुचित विकास के लिए वैज्ञानिक पद्धति की नींव डाली। अत: उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों में यूनानी प्रभाव पड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरी ओर यह कहना अनुचित नहीं होगा कि आर्यभट यूनानी गणितज्ञों खासकर डायफैन्टस से कुछ सिद्धान्तों के निरूपण में बढ़े-चढ़े थे। उनकी विधियाँ तर्क संगत एवं वैज्ञानिक तो हैं ही, प्रथम घातीय अनिर्णित समीकरणों के हल की विधि,

प्राकृतिक संख्याओं के घन के योगफल जैसे कुछ सिद्धान्तों के तो वे आविष्कारक ही हैं। अत: कुछ विद्वानों का यह आक्षेप कि आर्यभट यूनानी सिद्धान्तों से प्रभावित हैं, निराधार है, युक्तियुक्त नहीं है। यदि उनके सिद्धान्तों में किसी प्रकार का प्रभाव परिलक्षित होता है भी तो वह प्राचीन भारतीय ग्रंथों का है। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि ब्राह्म सिद्धान्त को ही वे आर्यभटीय के रूप में लिख रहे हैं। उन्होंने उस महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रंथ के साथ-साथ अन्य ग्रंथों का भी अध्ययन-अनुशीलन किया, स्वयं गणना कर ग्रहदिकों का साधन किया तथा वैज्ञानिक सिद्धान्तों का निरूपण किया।

5.6 **निष्कर्ष :** यह सत्य है कि 20वीं शताब्दी में आधुनिक गणित-विज्ञान का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत एवं विकसित हो गया है। इसका उपयोग जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में होने लगा है तथा इसकी अनेक नवीन शाखाएँ फूट निकली हैं, पर इसकी आधारभूत मौलिक मान्यताएँ क्या इससे अलग की जा सकती हैं? कदापि नहीं। मानव-सभ्यताा के इतिहास की भाँति गणित के इतिहास में भी जो महत्त्वपूर्ण बात है, वह है उसका मौलिक तत्त्व। यद्यपि आर्यभट का गणितीय अवदान आधुनिक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण नहीं मालूम पड़ता, पर उसके मौलिक तत्त्वों की आधारशिला आर्यभट जैसे प्रतिभाशाली प्राचीन वैज्ञानिकों के द्वारा ही डाली गयी। इसलिए 19वीं-20वीं शदी के गणितज्ञों की तुलना में उनकी देन का महत्त्व कम नहीं है। उन्होंने अभिनव उद्भावक के रूप में प्राचीन काल में गणित के क्षेत्र में क्रांतिकारी कदम उठाया तथा आधुनिक गणित के लिए मूल्यवान सम्पदा प्रदान की। ज्योतिष-ग्रंथ में गणितीय सूत्रों का समावेश कर उन्होंने भारतीय गणित को एक नयी दिशा दी। फलस्वरूप इस परम्परा का अनुकरण कर परवर्त्ती गणितज्ञों ने भारतीय गणित को विकसित किया तथा विश्व के लिए आदर्श उपस्थित किया। साथ ही ज्योतिष के क्षेत्र में भी आर्यभट ने नए-नए सिद्धान्तों का आविष्कार किया जो सदैव के लिए नूतन हैं। उन्होंने ज्योतिष को विज्ञान का रूप प्रदान किया तथा वैज्ञानिक विधियों का श्री गणेश कर अनुवर्त्ती ज्योतिषविदों के लिए पथ-प्रदर्शन का कार्य किया। आधुनिक यंत्रों के अभाव में भी भारतीय ज्योतिष को उसी तरह विकसित करने का प्रयास किया जिस तरह टोलेमी ने यूनानी ज्योतिष को किया। श्रुति-स्मृति एवं पुराणों की परम्परा के विरूद्ध सत्य एवं मौलिक विचारों को प्रस्तुत कर उन्होंने बड़े साहस का परिचय दिया तथा भारत में वैज्ञानिक अनुसंधान की एक स्वस्थ परम्परा स्थापित की। वे गणित-ज्योतिष के इतिहास में एक नवीन युग के प्रवर्त्तक थे, भारतीय विज्ञान के शिखा पुरुष थे तथा अलौकिक प्रतिभासम्पन्न विभूति थे। उनकी एकमात्र उपलब्ध रचना आर्यभटीय उनकी बहुमुखी प्रतिभा का प्रतीक है, भारतीय गणित-ज्योतिष की अक्षय निधि है और है भारतीय विज्ञान की अमूल्य थाती। यह प्राचीन भारत की वैज्ञानिक उपलब्धि की प्रतिनिधि रचना है ठीक उसी तरह जिस तरह रामायण एवं महाभारत भारतीय संस्कृति-सभ्यता के प्रतीक हैं। कालिदास को भारतीय शेक्सपीयर कहें और वाल्मीकि को भारतीय होमर तो आर्यभट को भारतीय न्यूटन कहा जाये तो कोई

अतिशयोक्ति नहीं होगी। भारत में ही नहीं, सभी समय के लिए एवं विश्व के सभी देशों में शीर्षस्थ वैज्ञानिक के रूप में उनका नाम अमर रहेगा। पर दुख हैं, कि अभी भी उनकी प्रतिभा का ठीक-ठीक सम्पूर्ण रूप में, मूल्यांकन नहीं हो सका है। यदि अनुसंधित्सुओं एवं शोध-संस्थानों का ध्यान उनकी अनुपलब्ध कृतियों की ओर आकृष्ट हो एंव उन ग्रंथों की पांडुलिपियाँ उपलब्ध हो जायें तो उनके कृतित्व के समुचित विश्लेषण-विवेचन करने में हम सक्षम हो सकेंगे।

संदर्भ-सूची :

1. द्रष्टव्य, डा० परमेश्वर झा (वर्त्तमान लेखक), आर्यभट वन:हिज स्कूल, बिहार रिसर्च सोसाइटी जरनल, अंक 55(1969), पृ० 102-14 ।
2. डा० परमेश्वर झा, कन्ट्रिव्यूशन्स औफ जैनाचार्य टू मैथमैटिक्स एवं एस्ट्रोनोमी, अर्हत् वचन, इंदौर, अंक 1(1988), पृ० 103 ।
3. वहीं, पृ० 104 ।
4. बी०बी० दत्ता, जैन स्कूल आफ मैथमैटिक्स, बुलेटिन, क०मैथ०सोसाइटी, अंक 20(1929), पृ० 127 ।
5. महाभास्करीय, टी०एस० कुप्पनशास्त्री (सं०), इन्ट्रडक्शन, मद्रास, 1957, पृ० 22 ।
6. द्रष्टव्य, आर्यभटीयम्, बलदेव मिश्र (सं०), भूमिका, पटना, 1966, पृ० 22-23 ।
7. मो०सै०सु० नदवी, अरब और भारत के सम्बन्ध, हिन्दी अनुवाद, रामचन्द्र वर्मा, इलाहाबाद, 1930, पृ० 113 ।
8. अल-बिरूनी कृत इंडिया, अं० अनुवाद, ई०सी० साचौ, भाग 1 लंदन, 1910, पृ० 74 ।
9. द्रष्टव्य, डा० परमेश्वर झा, आर्यभट वन एंड हिज़ कन्ट्रिव्यूशन्स टू मैथमैटिक्स, पटना, 1988, पृ० 66-70 ।
10. वहीं, पृ० 288।
11. वृहत् संहिता, अध्याय 2, श्लोक 15 ।
12. द्रष्टव्य, डा० परमेश्वर झा, वही (सं०9), पृ० 59 ।